आदिम एकान्त

—जगदीश गुप्त

❖

प्रथम संस्करण : 1980

रेखांकनों के चित्रकार श्री जगदीश गुप्त

मूल्य : 90.00 रुपये

प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन

2/3, अंसारी रोड, दरियागंज

नई दिल्ली-110032

मुद्रक : भारती प्रिंटर्स

दिल्ली-110032

आत्मपक्ष पुस्तक पृष्ठ संख्या—9

अनुभाग एक

1. भटकनों में अर्थ होता है पृष्ठ संख्या—19
2. अर्थ किसमें है, कहाँ खोजूँ पृष्ठ संख्या—20
3. काक-पंखों से अँधेरा झर रहा है पृष्ठ संख्या—21
4. संकल्पों पर भय की छाया पृष्ठ संख्या—22
5. जब तक सूखते हैं जाल पृष्ठ संख्या—23
6. गंगाजल पर चलती बादल की छाया पृष्ठ संख्या—24

7. आँख का सुख बन गया दुख पृष्ठ संख्या—25
8. वर्षा की बूंदों से शब्द-शब्द धुलता है पृष्ठ संख्या—26
9. किसी का कुछ भी नहीं अधिकार पृष्ठ संख्या—27
10. स्वर्गंगा के तीरे-तीरे पृष्ठ संख्या—28
11. पौधों में उभरा सीताओं का रूप पृष्ठ संख्या—29
12. खिली सरसों आँख के उस पार पृष्ठ संख्या—30
13. मीलों तक पीले फूलों की हिलती काया पृष्ठ संख्या—32
14. गुलहज़ारा खिला कितने रंग पृष्ठ संख्या—33

अनुभाग दो

15. थके माथे पर नयी उगते किरन पृष्ठ संख्या—37
16. झूठ का दायरा टूट के ज्योति-पथ बने पृष्ठ संख्या—38
17. हर तारा आँख है पृष्ठ संख्या—39
18. जाने थी क्या चीज कि मन के भीतर टूट गयी पृष्ठ संख्या—40
19. पानी गहरा है पर थाह नहीं पाता हूँ पृष्ठ संख्या—41
20. मत देख अनिमेख बहती नदी-रेख पृष्ठ संख्या—42
21. टेरो मत पृष्ठ संख्या—43
22. आँज गयीं किरनें पराग की धूल से पृष्ठ संख्या—44
23. भर-भर अँजुरी पाँगर-गंध बिथोरती पृष्ठ संख्या—45
24. शिखरों से उतर रहे बादल जैसे रुई पृष्ठ संख्या—46
25. खोयी इन आँखों की आँख घने दारुका-वने पृष्ठ संख्या—47
26. आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी पृष्ठ संख्या—48
27. अगर तुम अंजलि न बाँधो पृष्ठ संख्या—49
28. इतनी बड़ी जीत कैसे सहेजूँ — 1 पृष्ठ संख्या—50

29. इतनी बड़ी जीत कैसे सहेजूँ — 2 पृष्ठ संख्या—51

अनुभाग तीन

30. तरुनाई-सी खिली जुन्हाई घुले पुलक से प्रान पृष्ठ संख्या—55

31. चाहता है जी उमड़कर डूब जाये पृष्ठ संख्या—56

32. मैंने पुकारा फिर तुम्हें पृष्ठ संख्या—57

33. यह चाँद ज्योति का कमल-फूल पृष्ठ संख्या—58

34. यह रूपहली छाँह वाली बेल पृष्ठ संख्या—59

35. इस समीरन में मिली होगी तुम्हारी साँस भी पृष्ठ संख्या—60

36. यह चंदन-सा चाँद महकता यह चाँदी सी रात पृष्ठ संख्या—61

37. हिम-धवल वक्ष की घाटी में उगते-उगते खो गया चाँद पृष्ठ संख्या—62

38. सुकुमार चाँदनी रही झूल उन्मत्त चाँद की बाँहों में पृष्ठ संख्या—63

39. किसी के रूप का आकाश धरती पर उतर आया पृष्ठ संख्या—64

40. वह रात अमर पृष्ठ संख्या—65

41. बादल घिर आये री बीर ! पृष्ठ संख्या—66

अनुभाग चार

42. छा गयी हो तुम हृदय में, प्राण में वन-वल्लरी सी पृष्ठ संख्या—69

43. क्षीर- सागर में नहा कर लौट आयी रात पृष्ठ संख्या—70

44. कन-कन का हृदय रस-स्नात पृष्ठ संख्या—71

45. चाँदनी का श्वेत कदली-वन पृष्ठ संख्या—72

46. धरती अंबर से कहाँ अलग, अंबर धरती से कहाँ दूर पृष्ठ संख्या—73

47. धरती की पिपासा देख पृष्ठ संख्या—74-75

48. सँवारा चाँदनी ने चाँद को आलोक-पथ देकर पृष्ठ संख्या—76

49. छिपाया चाँदनी ने चाँद को निज वक्ष के नीचे पृष्ठ संख्या—77

50. नखत-नयनों से चकित हो गगन ने उस पार देखा पृष्ठ संख्या—78

51. काश, यह आकाश अपना नीड़ होता पृष्ठ संख्या—79
52. घनी काली बड़ी आँखें पृष्ठ संख्या—80
53. मेरी सुधि की तरलाई के जल-कन भर लायी-सी कुछ-कुछ पृष्ठ संख्या—81
54. मैं नहीं चाहता स्मिति लाचार अधर की पृष्ठ संख्या—82
55. रिमझिम-रिमझिम बरसे चुम्बन पृष्ठ संख्या—83-84
56. शिथिल साँसों से सिहरकर, पुष्प की किस पंखुरी ने पृष्ठ संख्या—85
57. तुम्हारे नयन में घुले स्वप्न मेरे पृष्ठ संख्या—86
58. पुलक उठे पलकों में छवि-कन पृष्ठ संख्या—87
59. जीवन के पथरीले पथ पर पृष्ठ संख्या—88
60. विमल दामिनी की सुस्मृति से दोनों दृग जलदाभ हो उठे पृष्ठ संख्या—89
61. केवल इतना ही बल आगे मेरी गति मेरा पथ होगा पृष्ठ संख्या—90
62. क्यों अथक, अविकल, उठाकर, इन्द्रधनुषी बाँह पृष्ठ संख्या—91
63. पुतलियों पर झुक गयी पलकें दृगों का भार होकर पृष्ठ संख्या—92-93
64. तुमने सिखलायी नयनों की भाषाएँ पृष्ठ संख्या—94

अनुभाग पाँच

65. लोग कहते हैं कि तुमसे दूर है अब जो पृष्ठ संख्या—97
66. शिथिल हो जाती निशा जब अलस पलकें मूँद पृष्ठ संख्या—98
67. आँसू दृगों से ढुल गये पृष्ठ संख्या—99
68. देख कर कातर दृगों से नीरदों की ओर पृष्ठ संख्या—100
69. जब चले आधार अपना खोजने विश्वास पृष्ठ संख्या—101
70. कुछ उदासी से भरी, कुछ साँझ-सी सुकुमार आँखें पृष्ठ संख्या—102
71. फट चले बादल, गगन ने फिरा धरा की ओर देखा पृष्ठ संख्या—103
72. पोंछ लो यह अश्रुकन, फिर-फिर छलक उठते हठीले पृष्ठ संख्या—104
73. हो रहे होंगे पलक की कोर पर कंपन अभी तक पृष्ठ संख्या—105

74. मिलन-पल में भी तुम्हारी कुछ न कहने की कला में पृष्ठ संख्या—106
75. माना मैं मन से दुर्बल हूँ, दोषी भी हूँ अपराधी भी पृष्ठ संख्या—107
76. कब हुआ निश्शेष अविनाश्वर तुम्हारा दान पृष्ठ संख्या—108
77. उड़ रही है धूल उर में पृष्ठ संख्या—109
78. इस निर्दय जगत् की हाट में, टूटे हृदय का मोल पृष्ठ संख्या—110
79. छिप गये घन बरुनियों में वे नयन अवदात पृष्ठ संख्या—111
80. जाने किस क्षण, किस तरह, कहाँ, कितनी भीषण हिलकोर उठें पृष्ठ संख्या—112
81. व्यर्थ ही लहरें उठी, लय हो गयीं फिर पृष्ठ संख्या—113-114
82. कभी जो पास थे, वे दूर होंगे पृष्ठ संख्या—115
83. इस स्नेह के उद्यान में कोमल कुसुम कितने खिले पृष्ठ संख्या—116
84. सहसा मन में जग उठती है दुख सहने की साध पृष्ठ संख्या—117
85. सच हम नहीं सच तुम पृष्ठ संख्या—118-119
86. जीवन है सुनसान और कुछ भी नहीं पृष्ठ संख्या—120
87. हरे-भरे अनगिन घावों से, बूँद-बूँद कर रक्त बह रहा पृष्ठ संख्या—121
88. एक वस्तु पाकर औरों की ओर ताकता है क्यों प्राणी पृष्ठ संख्या—122

अनुभाग छह

89. नया लक्ष्य हो या नयी सृष्टि हो पृष्ठ संख्या—125
90. जिसके सन्मुख युग-युग का मस्तक झुक गये पृष्ठ संख्या—126
91. अपने आँसू में लीन दीन शैशव हैपृष्ठ संख्या—127
92. किसने विनाश के चित्र भयंकर खीचे पृष्ठ संख्या—128
93. उपवन में निष्ठुर वेश लिये छलियों का पृष्ठ संख्या—129
94. भय से रजनी रो उठी अबोध अभागिन पृष्ठ संख्या—130

अनुभाग सात

95. तुम्हीं न त्याग कर सके पृष्ठ संख्या—133

96. दुखी न हो अनंगिनी पृष्ठ संख्या—134

97. पलक उठे, पलक गिरे पृष्ठ संख्या—135

98. न रश्मि तुम, न ओस तुम पृष्ठ संख्या—136

99. सकी न टूट शृंखला पृष्ठ संख्या—137

100 बनी रही परम्परा पृष्ठ संख्या—138

101 मनसिज ने कुसुम-धनु तान पृष्ठ संख्या—139

102 बूँदों में हृदय को खींच पृष्ठ संख्या—140-141

103 मैं कहाँ हूँ पृष्ठ संख्या—142-143

104 मुझे फिर अपना गहन एकांत दो पृष्ठ संख्या—144

❖

आत्म पक्ष

कवि रूप में जिस तरह मैं अपने ब्रजभाषा के छंदों और नयी कविताओं में जिया हूँ, उसी तरह मेरा एक जीवन-प्रवाह गीतों में भी निबद्ध हुआ है। यह दो पंक्तियाँ मेरे गीतकार की मनोदशा को अधिक मार्मिक रीति से संकेतित कर सकेंगी :

उठी एक उर्मि कहीं मेरे भीतर, जैसे—
किसी ने अँधेरे में गीत गुनगुनाया।

गुजराती में समस्त गीतात्म काव्य को 'उर्मि-काव्य' ही कहते है। सम्भव है मेरे शब्द-प्रयोग में कहीं वह संस्कार निहित रहा हो या आकस्मिक रीति से ही 'उर्मि' शब्द यहाँ आ गया हो। लम्बे गंगा-तटीय जीवन में उर्मियों का साहचर्य मेरे संदर्भ में और भी अधिक स्वाभाविक है।

इस संकलन में जो गीत समाहित हैं, उन पर कई दशकों की युग-छायाएँ सहज ही लक्षित होती हैं। छायावादोत्तर हिन्दी कविता के विकास-क्रम से परिचित कोई भी सचेत कविता-पारखी उन्हें सरलता से पहचान सकता है। यदि वह संवेदनात्मक धरातल पर उन छायाओं के संवहक मेरे कवि-व्यक्तित्व को भी जान लेता है तो मानूँगा कि प्रत्यक्ष या परोक्ष, जैसे भी हो, मेरी उसकी जान-पहचान काफी पुरानी है। कविता देश-काल की छायाओं को सहेज कर भी उन्हें अतिक्रमित करने की क्षमता रखती है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। यदि इन गीतों में ऐसा कुछ करने की तनिक भी शक्ति लक्षित हो तो मैं अपने इस दिशा के कृतित्व को उसी अनुपात में सार्थक समझूँगा। यों, इतने पहले से लेकर इधर तक की गीतात्मक रचनाओं को एक साथ रखने में मुझे कुछ संकोच का अनुभव तो हो ही रहा है, पर ओमप्रकाशजी जैसे आग्रहशील प्रकाशक के आगे वह चल नहीं सका। अब उनके दिवंगत हो जाने के बाद तो मैं उसकी बात तो मैं उसकी बात भी नहीं कर सकता। फिर सत्य को सामने आने देने में मैं

बाधक क्यों बनूँ ! वैसे अपने को गीतकार, अगीतकार या नवगीतकार कहलाने या मनवाने का मेरा कोई इरादा नहीं है। मैं कवि ही भला |

पृष्ठ संख्या—9

जो भी मैने रचा है, उसकी पंक्ति-पंक्ति के साथ मेरी आत्मीयता है और कविता मेरे निकट एक बड़े अर्थ में आत्मीयता के विस्तार का सबसे अधिक विश्वसनीय एवं सक्षम माध्यम रही है। वह आत्म-साक्षात्कार भी तो कराती है। संस्कृत काव्य के लिए यह उक्ति भले ही सही समझी गयी हो, पर प्राकृत-अपभ्रंश की लोकोन्मुखी धारा को आत्मसात् करने वाली हिन्दी के सन्दर्भ में मैं नहीं मानता कि 'काव्य गीतेन हन्यते' कहा जा सकता है।

नयी कविताः स्वरूप और समस्याएँ नामक अपनी वैचारिक कृति में 'नयी कविता और गीत शैली' शीर्षक से मैंने जो विचार व्यक्त किये हैं, आज भी मैं उन्हें उपादेय मानता हूँ। उनसे विरत होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। मैंने उस लेख में संथाली लोकगीत की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की थी। उन्हें यहाँ फिर सामने रखना चाहता हूँ क्योंकि उनमें गीत के स्वरूप की मौलिक सार्थकता निहित हैः

सेरेज दोम जोभा सेम जू या।
सेरेज दोम लादा सेम रापांगा।
सेरेज दोम मोनरे जो सेबेला—
सेरेज दो लुटन रेगोय
लोट को लोटोगा।

[अर्थ— गीत को क्या तुम खाओगे ? क्या उसे पियोगे ? क्या गीतों को पत्ते के साथ आग में जलाओगे ? गीत तो मन को स्वाद पहुँचाता है। गीत तो केवल अधरों पर ही गूँजता है।]

बन्धुवर ठाकुरप्रसाद सिंह क्यों संथाली गीतों पर इतना मुग्ध रहे हैं, इसका रहस्य इस उद्धारण की प्रत्येक पंक्ति उद्घाटित कर रही है। इतना शुद्ध और इतनी स्वाभाविक प्रेरणा से उत्पन्न गीत किसी भी काल के साहित्य की शोभा कहा जायेगा। पर आज ऐसा कितनी दूर तक सम्भव है, यह एक आसन्न और कठोर प्रश्न है। 'धर्मयुग' में प्रकाशित तेलगू कवि शेषेन्द्र शर्मा की कुछ अनुदित पंक्तियाँ यहाँ स्मरणीय है क्योंकि वे भी गीत के विशुद्ध रूप को उभारती हैं :

यह गीत वर्षों पूर्व मुझे छोड़कर चला गया था।
आज फिर इसने मेरे
अधरों के द्वारों पर चरण रखे हैं।
यह घाटी हमारे गीत
बुन रही है।
चन्द्रमा मेरी खिड़की में आ गया है।
और उसने फिर से
मेरे भीतर की आग को सुलगा दिया है।

पृष्ठ संख्या—10

यह पुष्प एक पक्षी है
जो तुम्हारे जूड़े में नीड़ बनाना चाहता है।

जो गीत कल रात हम दोनों ने संग-संग गाये हैं
वे अभी तक कुँजों में अटके हुए हैं।

और वे फूल
जो रात में धरती पर उतर आये हैं
पुनः वृक्षों तक लौटना भूल गये।

मैने पाया है कि लोक-गीतों से लेकर सिने-गीतों तक भारतीय जनमानस को गीत कहीं इतनी गहराई से जकड़े हुए हैं कि वह कैसा भी हो, उसे ग्राह्य हो जाता है। पर टिकता वही है जिसमें अनुभूति की सच्चाई अपने पारदर्शी रूप में प्रकट होती है– एक ऐसी सहजता के साथ जिसे कृत्रिम रूप से किसी अन्य के लिए उपलब्ध कर पाना सम्भव नहीं होता। भक्ति-भावना को जबरदस्ती सिने-गीतों की तर्ज में ढालकर गाना मुझे गन्दा लगता रहा है। विज्ञापन में भी गेयता की निरन्तर हत्या की जाती है। ऐसा दुरुपयोग ही 'अगीत' की ओर ले जाता है।

'नयी कविता' के मुक्त-छंदी गंगा-प्रवाह में गीत विलीन नहीं हुए वरन् वे उसकी गरिमा बनकर 'अगीत' या 'नवगीत' के रूप में कहीं पुष्प और कहीं प्रदीप की तरह गतिशील आकर्षण उत्पन्न करते रहे। उनमें युगीन समस्याओं को अपने ढंग से सांकेतिक बनाकर प्रस्तुत करने की असाधारण क्षमता मिलती है। पर कहीं-कहीं नयी कविता के मुहावरे और बनावट को कृत्रिमतापूर्वक अपनाने के प्रयास भी साफ़ दिखायी देते हैं। यह बात अभी इतनी दूर तक नहीं गयी है कि उनकी मौलिकता और नवता ही प्रश्नांकित हो जाये। अनेक नये गीतकारों की रचनाएँ मुझे भाती हैं और प्रभावशाली पंक्तियाँ बहुधा स्मरण भी हो जाती हैं। उनकी मंचीय सफलता भी नगण्य नहीं है। पर काव्य के वास्तविक मूल्यांकन के लिए वह बहुधा भ्रामक सिद्ध होती है, इसमें भी संदेह नहीं।

जहाँ तक मेरे गीतों का सम्बन्ध है, उनमें बहुत से नयी कविता-आन्दोलन से पूर्व रचे गये हैं। अनेक गीत बाद में भी रचे गये जिन्हें मैंने प्रारम्भ में संकलित कर दिया है। नवतादर्श को भारतीय सौन्दर्य-बोध का अनिवार्य अंग मानने और नयी कविता से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होने के कारण मुझे अपने गीतों में नवता को अलग से अर्जित करने की चेष्टा नहीं करनी पड़ी। वह यदि है तो है, नहीं तो नहीं।

मेरी घोषित मान्यता है कि नयी कविता का विशाल अनुभूति-क्षेत्र गीतात्मक संवेदना की एकाकी सीमित परिधि में नहीं समा सकता। इसी लिए मैं नयी कविता के विरुद्ध 'नवगीत' आदि की मोर्चेबन्दी को अनावश्यक मानता रहा हूँ।

दोनों का साहचर्य ही श्रेयकर है क्योंकि एक-दूसरे के पूरक है। नयी कविता अधुनातन भावबोध और युगीन वैचारिक संघर्ष से अनुप्रेरित होती है और गीत अपने मूल रूप में कहीं न कहीं आदिम संस्कारों को जगाने का यत्न करता है। ऐसे संस्कार कभी 'गीत' और कभी 'गीति' के रूप में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रह कर मुखर हो उठते हैं। उन्हें अनाधुनिक कहकर मिटाया नहीं जा सकता क्योंकि आधुनिकता की ही एक प्रवृत्ति मनुष्य के आदिम रूप को महत्व देने और उसे अकृत्रिम रीति से उद्घाटित करने में विश्वास रखती है। नयी शक्तिमत्ता अर्जित करने के लिए आधुनिक कला में भी आदिम संस्कारों का पर्याप्त अभिव्यक्ति मिल रही है। यह अवश्य है कि उनकी प्रकृति रोमांटिक नहीं होती है वरन् बहुत दूर तक उसके विरोध में जाती है। यह विडम्बना ही है कि मनुष्य सामाजिक होने के अतिशय आग्रह में कहीं नितान्त अकेला पड़ता जा रहा है— इतना कि उसकी सार्थकता पर भी आँच आने लगी है। ऐसे में यदि वह अपने सर्वथा निजी, अन्तरंग क्षणों को वाणी दे तो उसकी अर्थवत्ता प्रमाणित करने में वह निश्चित

रूप से सहायक होगी। यदि हम सामाजिकता को व्यक्ति-विरोधी मान कर न चलें तो यह समझना कठिन नहीं है कि उससे बुनियादी तौर पर सामाजिक उद्देश्य भी पूरा होगा। अकेले में भी जो कुछ मनुष्य कहता है, वह किसी-न किसी को सुनाने के भाव से सर्वथा रहित नहीं होता। विशेषतः काव्य-रचना के स्तर पर की गयी अभिव्यक्ति तो मूलतः सामाजिक ही होती है।

इस प्रसंग में मैं भवानी भाई की प्रसिद्ध कविता 'गीत-फ़रोश' की मनोभूमि का संस्पर्श करना आवश्यक समझता हूँ क्योंकि जिस प्रखर व्यंग्यात्मकता के साथ 'गीत' की प्रतीकात्मक मूल्यवत्ता को यहाँ रेखांकित किया गया है, वह हिन्दी ही क्या अन्यत्र भी अलभ्य है। उन्होंने अपने व्यंग्य को और पैना बनाकर चलताऊ गीतों पर चोट करते हुए गीतों का नुस्ख़ा भी पेश कर दिया जो काफ़ी लम्बा है पर अन्तिम पंक्ति मुझे भूली नहीं है— 'वो, जी हाँ उस अजूब चीज़ को ही गीत कहता है।' बिना इस मर्मवेधी मानसिकता से गुज़रे आज गीत के पक्ष में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। जो इस अहसास के बिना गीत की वकालत करते है, वे या तो युग-सन्दर्भ को सही तौर पर समझते नहीं या जानबूझकर 'शार्टकट' की संस्कृति को अपनाना चाहते हैं।

गीत मानवीय स्नेह-विश्वास, हर्ष-उल्लास, आशा-निराशा, करुणा और उदासी को निरन्तर अभिव्यक्ति करता रहा है। वह मनुष्य के श्रम औार संघर्ष का भी साथी रहा है, पर अन्तरंग सखा 'यार' बन कर ही, 'हथियार' बन कर नहीं। यों होने को 'मारू-गीत', 'जुझारू-गीत' और 'अभियान-गीत' भी निर्मित होते ही रहे हैं। उनका अनुपात इतना कम मिलता है कि गीतात्मकता की स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में उन्हें ग्रहण करना दुष्कर है। फिर आज के युग में जुझारूपन

पृष्ठ संख्या—12

समकालीन युवा कविता में विशेष रूप से उभर कर सामने आया है। युयुत्सा पर बल देने वाली एक मनोवृत्ति आज भी सक्रिय है। गीत अधिकतर वन्य एवं ग्रामीण जीवन की सुकुमार स्मृतियाँ अपने में सँजोये रहा है। लोक-गीतों में मानवीय पक्ष जितना प्रबल होकर सामने आता है, उतना नागर-गीतों में नहीं मिलता। नागरिक जीवन में गीतों को अपेक्षाकृत कम प्रतिष्ठा मिली। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है संस्कृत साहित्य, जिसमें 'गीतगोविन्द' अपवाद जैसा दिखायी देता है, यद्यपि अब उसकी भी पूर्वापर परम्परा खोज ली गयी है। 'अग्रेगीतं सरस कवयः' लिख कर भार्तृहरि ने सम्भवतः मुख्य रूप से प्राकृत-अपभ्रंश के कवियों की ओर इंगित किया है। मध्यकाल में प्रत्येक पदकार-कवि प्रायः संगीतज्ञ एवं गायक रूप में सामने आता है। छायावाद तक आते-आते यह सम्बन्ध लगभग टूट गया और संगीत कविता में अपनी लयात्मकता के साथ अन्तर्मुखी होकर व्याप्त हो गया। नाराज़ होकर सभी नये कवियों को 'असफल गीतकार' कहने का दम रखने वाले तथा सहज संगीतमयता से युक्त गीतों के सूक्ष्मपारखी एवं सर्जक जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'निराला के पत्र' की सुचिन्तित भूमिका में निराला के गीतों को 'विवर्त गीत' और पंत के गीतों को 'संवर्त गीत' कहा है। शास्त्रीजी का वास्तविक आशय पूरी तरह न समझ कर भी मैं अनुभव करता रहा हूँ कि दोनों में तात्विक अन्तर अवश्य है। 'निराला' में संगीत का वह संस्कार प्रकट रूप से भी लक्षित होता है। उनकी 'गीतिका' प्रमाण है। वे 'हृदय-छंद' के पक्षधर थे—'यदि मिला न तुमसे हृदय-छंद तो एक गीत मत गाना तुम। कदाचित् इसीलिए निराला अन्तिम दिनों में 'सेवा में जन जननि आ गया' जैसे भक्तिपरक गीत लिखने लगे। मैंने तो सर्वथा संगीत-शून्य होकर केवल लय-बोध के सहारे गीत लिखने का साहस किया है। भाव और छंद के साथ जो भी शब्द बह सके उन्हें मैंने निस्संकोच अपनाया, बिना इस बात की चिन्ता किये कि वे अपने हैं या पराये। कविता भाषा में रची ही नहीं जाती, वह स्वयं भी भाषा को रचती चलती है। जब भी प्रेरणा हुई और नितान्त एकान्त में स्वयं

अपने ही अलक्षित किन्तु आत्मीय अंश से कुछ कहने की भावना जागी तो जो रचा गया, वह प्रायः गीत होकर ही प्रकट हुआ। इस जगह मुझे एक प्रसिद्ध साहित्य-समीक्षक का कथन याद आ रहा है जिसमें 'व्यक्तिगत' और 'मानवीय' के बीच विवेक करते हुए गीत-रचना के सन्दर्भ में मानवीयता को वरेण्य माना गया हैः

Though the essence of lyrical poetry is personality, It must yet be remembered that the majority of the world's great lyries owe their place in literature very largely to the fact that they embody what is typically human rather than what is merely individual and particular, and that thus every reader finds in them the expression of experiences and feelings in which he himself is fully able to share. In such cases we do not have to put ourselves

in the poet's place because he has already put himself into ours.

— An Introduction to the Study of Litereature, W.H. Hudson, P. 97.

(रूपांतर —यद्यपि व्यक्तित्व गीत-काव्य का सार-तत्व है तथापि यह स्मरणीय है कि संसार के अधिकांश महान् गीत, साहित्य में अपनी स्थिति के लिए अधिकतर इस तथ्य के आश्रित हैं कि वे केवल व्यक्तिगत एवं सविशेष न होकर पहचाने हुए सहज मानवीय भाव को प्रतिमूर्त करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक पाठक उनमें ऐसे अनुभवों और भावनाओं की अभिव्यक्ति पाता है जिनसे उसकी आत्मीयता होती है। ऐसी स्थितियों में हमें अपने को कवि के स्थान पर रखना नहीं होता क्योंकि उसने पहले ही अपने को हमारे स्थान पर रख लिया होता है।)

जब इस मानवीयता की कमी हो जाती है, गीतिमयता का ह्रास के पहले एक रूपान्तरण घटित हुआ। प्रसाद-निराला-पंत-महादेवी-रामकुमार के छायाभास गीतों के बाद बच्चन-नरेन्द्र-अंचल-सुमन-दिनकर-गिरिजाकुमार-शम्भूनाथ आदि के गीतों का दौर आया, जो छाया को छोड़ कर प्रखर आलोक में आ गये हैं। इस सन्दर्भ में माथुर जी की 'छाया मत छूना, मन' पंक्ति मुझे विशेष अर्थपूर्ण लगती है। उक्त कवियों में प्रथम को छोड़ कर शेष सभी से मेरा प्रत्यक्ष सम्पर्क रहा है। प्रसाद जी को कभी न देख पाने का दुख मन में सदा बना रहेगा।

मैं अपने को इस बात के लिए गौरवान्वित समझता हूँ कि सब का सौहार्द मुझे सदा मिलता रहा। पूज्य दादा पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की वरद हस्त तो उनकी स्मृति के साथ मैं आज भी अपने पर निरन्तर अनुभव करता हूँ। उन्हें गीत बहुत भाते थे और उन्होंने लिखे भी हैं। पर उनको स्वयं गाते हुए मैंने कभी नहीं सुना। संगीत की सभा जोड़ कर पूरी रात बिताते हुए अवश्य देखा है।

भारती, साही, केशव आदि 'परिमलियन' साथियों की बात क्या कहूँ ! वहाँ तो दोस्ती की पहली शर्त ही थीः

मीत मेरे !
क्या सुनोगे सौ कहानी और दो सौ गीत मेरे।

किस मार्मिक गीत को हमने मिलकर नहीं सराहा और किस प्रतिष्ठित गीत की पैरोडी नहीं रच डाली। एक नमूना देखिये:

तुम्हें लहर पुकारती।
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और धर्मवीर भारती।

यह 'पंचचामर' छंद मुझे उन दिनों इतना सिद्ध था कि इसमें पचासों गीत रच

डाले। अप्रकाशित 'अनंगिनी' के सभी गीत इस छंद में हैं। कुछ इस संग्रह में समाकलित भी हैं। प्रयाग की भूमि ने कविता के क्षेत्र में नयी चेतना को सदा संवर्धित-समर्थित किया है, उसका रूप चाहे जो रहा हो। मित्रों के बीच भी एक-दूसरे की खिंचाई के साथ सराहना भी होती रहती थी। नरेश मेहता को मेरा गीत 'टेरो मत' बहुत प्रिय लगा और इस बात को उन्होंने दो-एक बार मंच से सार्वजनिक भी बना दिया। विष्णुकान्त शास्त्री को तो यह याद ही हो गया है, साथ ही 'आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी' वाला 'हिम-विद्ध' का गीत भी। मुझे भी ये दोनों ही बहुत प्रिय हैं।

यह विचित्र है कि शम्भूनाथ सिंह के प्रसिद्ध गीत 'किसी के चरण पर वरण फूल कितने, लता ने चढ़ाये लहर ने बहाये' से अनुप्रेरित होकर जो चित्र मैंने बनाया था, वह उनके 'छायालोक' नामक संग्रह में प्रकाशित हुआ है। किन्तु अपने गीतों को स्वयं चित्रित करने की प्रेरणा मुझमें बहुत कम जागी। 'नाव के पाँव' में कुछ गीत रेखांकनों सहित छपे हैं, पर उसमें अन्य सभी कविताएँ इसी प्रकार चित्रित है। 'अनंगिनी' के गीतों की पृष्ठभूमि को व्यक्त करने वाली 'दीप-शृंखला' के प्रकाशित चित्र अपवाद ही हैं। इस संकलन के साथ कुछ रेखांकन ऐसे दे रहा हूँ जो गीतों के मनोभावों से एकात्मकता तो रखते हैं पर उनके साथ रचे नहीं गये हैं।

मेरे अब तक प्रकाशित कविता-संग्रह में कोई भी ऐसा नहीं है जिसमें कुछ गीत—चाहे दो-एक ही क्यों न हों—समाविष्ट न रहे हों। इस संग्रह के चयनक्रम में मैंने उन्हें उपेक्षित नहीं किया है। पहले कुछ ग़ज़लें भी इसमें देना चाहता था पर अब उन्हें अलग किये ले रहा हूँ। दुष्यन्त की ग़ज़लों के बाद हिन्दी में मुझे किसी की गजलें नहीं रुचतीं। अपनी भी नहीं।

पहले स्नेह-गीत, निसर्ग-गीत, ऋतु-गीत आदि शीर्षकों के अन्तर्गत गीतों को वर्गीकृत करके प्रस्तुत करने का भाव मन में आया पर संकलन की सीमा को देखते हुए अब उसे अस्पष्ट ही रहने दे रहा हूँ।

अगर कोई मुझसे पूछे कि 'भाई, तुम्हें अपने कौन-से गीत सबसे प्रिय है' तो पशोपेश में पड़ जाऊँगा। यों मैं जानता तो हूँ पर कहना मुश्किल है। कवि तो इस संकट को रचना-प्रक्रिया में ही अनुभव करने लगता है :

जो कुछ भी मैंने कहा, वही क्या था मन में,
जो कुछ था मन में, ठीक वही क्या कह पाया।

हाँ, एक गीत अवश्य ऐसा है जिसे मैंने चुन कर सबसे अन्त में रख दिया है। उसी का शीर्षक 'आदिम एकान्त' मुझे इस संग्रह के अभिधान के लिए उपयुक्त लगा। मेरी अन्तरंग मनःस्थिति के अतिरिक्त उससे गीतों की आदिम प्रवृत्ति का

भी बोध होता है, जिसे मैं रेखांकित करना चाहता हूँ। 'तुमुल कोलहाल कलह में मैं हृदय की बात रे मन !' लिख कर प्रसादजी ने पहले ही उसकी ओर इंगित कर दिया है। उससे पूर्व एक प्रश्न-गीत भी रख दिया है, जो इधर का लिखा हुआ है। इस प्रश्नात्मकता से अब मुक्ति नहीं है।

गत 'कवि-दिवस' की जो पंक्तियाँ अचानक लिख गयीं, उनमें से यही अपने इस आत्मकथ्य के समापन के लिए उपयुक्त लगती है :

धुआँ उठता है,
धधकने लगी
सचमुच आग।
अस्थि-वंशी से
निकलने लगा भैरव राग !
अगर कवि की अस्मिता
कुछ शेष है तुझमें
सो रहे हर एक क्षण से कह
कि अब तो जाग !

इन गीतों की प्रतिलिपि बनाने में साधना, सरिता और मधुसूदन पाठक आदि ने सहयोग दिया है, वे मेरे स्नेह-भाजन हैं।

प्रयाग
20.1.80

—जगदीश गुप्त

पृष्ठ संख्या—16

❖

अनुभाग- एक

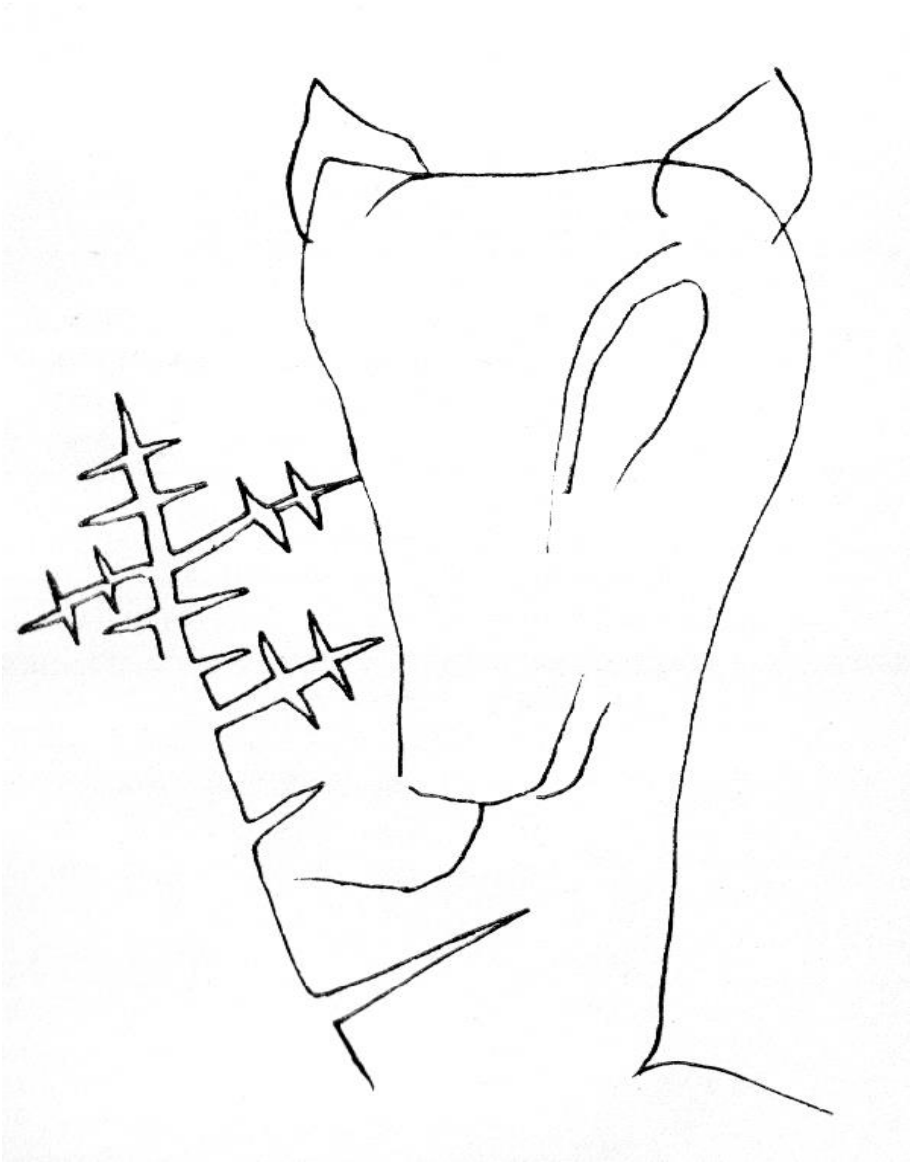

पृष्ठ संख्या—17-18

1 — भटकनों में अर्थ होता है |

टूटना कब व्यर्थ होता है।

ज़िन्दगी कच्चे घड़े - सी है,
आँच देकर हर विषम अनुभव पकाता है,
सतह से संपर्क रख कर भी,
व्यक्ति-मन गहराइयों में डूब जाता है।

शक्ति की खोई हुई पहचान जगती है,
आदमी जब बेतरह असमर्थ होता है।

भटकनों में अर्थ होता है,
टूटना कब व्यर्थ होता है।

दूब की हर एक पत्ती पर
ओस-मोती जब अँधेरा छोड़ जाता है,
राजपथ की ओर क्यों सूरज,
गाँव की पगडंडियों को मोड़ जाता है।

एक टूटे-भटकते कवि की शिराओं में,
पार्वती-परमेश्वरी वागर्थ होता है।

भटकनों में अर्थ होता है।
टूटना कब व्यर्थ होता है।

•

2 — अर्थ किसमें है, कहाँ खोजूँ?
कुछ बताओ तो, जहाँ खोजूँ?

रूप को लाचार देखा है,
स्नेह का व्यापार देखा है,
किस 'नहीं' के बीच 'हाँ' खोजूँ?
अर्थ किसमें है; कहाँ खोजूँ?

बंधनों का बोझ बन जाना,
आदमी ने कब सही माना ?
किस सहारे के लिए भटकूँ ?
किस लिए सारा जहाँ खोजूँ ?

तान-सा तनने नहीं पाया,
सिलसिला बनने नहीं पाया,
दर्द सब छितरा गया यूँ ही,
कुछ यहाँ हो, तो वहाँ खोजूँ।

अर्थ किसमें है, कहाँ खोजूँ ?
कुछ बताओ तो, जहाँ खोजूँ ?

•

3 —

काक-पंखों से
अँधेरा झर रहा है।

रात के इन पहरुओं से
भोर का आलोक
कितना बेखबर
तनिक भी बदली नहीं है
अभी तक आवाज़ इनकी
चीज़ क्या है ?
क्यों नया माहौल
इनसे डर रहा है
काक-पंखों से
अंधेरा झर रहा है।

हर दिशा के
श्वेत-पट पर
लिखे काले कारनामे
और किसके हैं ?
वंचना के जिस धुएँ से
ये हुए हैं स्याह
वह अपना ज़हर
सबकी नसों में भर रहा है।

काक-पंखों से
अँधेरा झर रहा है|

पृष्ठ संख्या—21

•

4 —

संकल्पों पर भय की छाया,
हत किरनों की कंचन-काया,
आँख खुल गयी, फिर भी–
अलसायी पलकों पर
सपना उभर रहा है ।

ठिठुरन से भर गयी चेतना,
कुंठित होने लगी प्रेरणा,
मन के ऊपर कैसे इतना
कोहरा उतर रहा है ।

जाड़े में क्यों घिरीं बदलियाँ,
ताक रही हैं बड़ी मछलियाँ,
मछुआरे के नये जाल को
चूहा कुतर रहा है ।

पृष्ठ संख्या—22

•

5 — जब तक सूखते हैं जाल
तब तक मछलियों के लिए—
जल में, यही काल सुकाल।

डाँडों के अनेकाकार
खंभे, जाल बंदनवार
आती आर, जाती पार
छेदों से हवा की धार।

गुरिये गुहे, भारी कोर,
लिपटी तूँबियों से डोर।
बल्ली पर टिका कर पाँव,
कौए बोल जाते 'काँव'।

मछुओं की लचीली भाँत,
काले अक्षरों की पाँत।
खाती धूप, पीती मेह
चिकनी, चमचमाती देह।

छिपकर तल-अतल की ओट,
लहरें कर रही हैं चोट।
सूनी सेज, खाली नाव,
किस से करें मनबहलाव!

ढीले बंध, उतरे पाल,
जब तक सूखते हैं जाल।

•

6 — गंगा जल पर चलती
बादल की छाया।

धूप में मछलियों-सी
चमचम हिलकोरों पर
किन काले पंखों का साया ।

स्याही की झीनी
जल-चादर के नीचे से
लहरों का रूप
तनिक और उभर आया ।

उठी एक उर्मि कहीं मेरे भीतर, जैसे—
किसी ने अँधेरे में गीत गुनगुनाया ।

पृष्ठ संख्या—24

•

7 — आँख का सुख,
बन गया दुख |

चील-सी मँडरा रही है मृत्यु-छाया,
बाढ़ का पानी घरों में पैठ आया,
बेतरह उतरा हुआ है,
अधगिरी दीवार का मुख |
आँख का सुख,

बन गया दुख |

पत्तियों पर छोड़ मटमैली सफेदी,
घट गया सैलाब, जल ने राह दे दी,
चीटियों की पाँत से सब
देखते हैं धार का रुख |
आँख का सुख,
बन गया दुख |

भभक, सिसियाइँध-सड़ाइँध, कीच-काई,
हर जगह बरसात की सौगात आई,
डरे कौए, डाल पर बैठे —
सँसाये हुए पंडुख |
आँख का सुख,
बन गया दुख |

पृष्ठ संख्या—25

•

8 —

वर्षा की बूँदों से शब्द-शब्द धुलता है ।
बूँदों की वर्षा से नया अर्थ खुलता है ।

भावों के बादल घिर आते हैं
घिर-घिर कर छाते हैं
बूँदों की भाषा में सब-कुछ कह जाते हैं
रिमझिम-रिमझिम अक्षर-अक्षर, रस धुलता है ।

भादों की कारी अँधियारी में
रह-रह कर
बिजली-सी उक्ति चमक जाती है।
वाणी की सोने-सी देह दमक जाती है ।
वर्षा की बूँदों में
बूँदों की वर्षा में

शब्द-अर्थ मिलते हैं, जीवन सब तुलता है ।

•

9 — किसी का कुछ भी नहीं अधिकार,
किसी पर कोई नहीं प्रतिबंध,
अजब है यह —
धार और कगार का संबंध !

एक आदिम प्रकृति
बाँधे हुए दोनों छोर ।
जंगलों का स्वाद
गहरे छुए मन के पोर ।
ज्योति का विस्तार
करता लोचनों को अंध !
असह है यह
धार और कगार का संबंध !

लहर छूती रहे
बहता रहे प्रखर प्रवाह ।
नीर सूखे नहीं
बढ़ता जाय थाह-अथाह ।
बाँध ले आकाश
तन से निकल माटी-गंध !
अमर हो यह
धार और कगार का संबंध !

•

10 — स्वर्गंगा के तीरे - तीर,
रश्मि - करों से धीरे - धीर,
जाने कब से खोल रहा है,
मन के गीले पाश।
तारों की रोशनी सहेजे
जाड़ों का आकाश।

वर्ष - मास- दिवसों की माया,
कौन नहीं गति में भरमाया,
सूरज छिपा, चाँद भी डूबा,
किसकी उन्हें तलाश ?
तारों की रोशनी सहेजे
जाड़ों का आकाश।

कहाँ गये अंगार दहकते ?
नयी सुबह के गुच्छ महकते !
पारिजात की रूप-राशि में,
ओझल हुआ पलाश।
तारों की रोशनी सहेजे
जाड़ों का आकाश।

•

11 — पौधों में उभरा सीताओं का रूप,
पछुआ के झोंकों से हिल उठती धूप,

बैंगनी - सफ़ेद बूटियों की हिलकोर,
पीले फूलों वाली छींट सराबोर,
ओस से सनी, चिकनी मिट्टी की गंध
पांवों को, फिसलन कर जाती निर्बन्ध

शब्द-भरी नन्हीं चिड़ियों की बौछार
लहराकर तिर जाती आँखों के पार
मेड़ के किनारे पगडंडी के पास
अनचाहे उग आती, अजब-अजब घास

इक्का - दुक्का उस हरियाली के बीच
कुतरती गिलहरी फिर-फिर दाने खींच
पकने में होड़ किये
गेहूँ की बाल
बथुए की पत्ती
मूँगे जैसी लाल।

पृष्ठ संख्या—29

(बथुए की कच्ची पत्ती हरी होती है पर पकने पर वह एकदम लाल हो जाती है।)

•

12 — खिली सरसों
आँखों के उस पार
कितने मील पीले हो गये !

अंकुरों से फूट उठता हर्ष
डूबकर उन्माद में प्रति वर्ष
पूछता है प्रश्न
हरित कछार
कितने मील पीले हो गये !

देखती प्रतिबिम्ब
रुक कर धार
कितने मील पीले हो गये !

एक रंग में भी
उभर आतीं
खेत की चौकोर आकृतियाँ,
रूप का संगीत
उपजातीं
आयतों की मौन आवतियाँ
चने के घुंघरू
रहे खनकार
कितने मील पीले हो गये !
मटर की पायल
रही झनकार
कितने मील पीले हो गये !

पाँखियों के स्वर हवा के संग
आँज देते बादलों के अंग
भोर, कोहरे का उमड़ता ज्वार
कितने मील पीले हो गये !
शाम सिंदूरी हुई लाचार,
कितने मील पीले हो गये !

खिली सरसों
आँख के उस पार
कितने मील पीले हो गये !

पृष्ठ संख्या—30-31

•

13 —

मीलों तक,
पीले फूलों की हिलती काया !
चटक धूप,
पैरों के पास सिमटती छाया !
मानकर कछार,
मुझे सरसों की गंध घेर लेती है ।

बर्फ़ीली पुरवा की मार, कभी पुरवाई,
ढालती दुलार, शिथिल साँसों में भर आयी
मानकर बयार,
मुझ गेहूँ की बाल टेर लेती है।

लहरों की चोट, रेत सहने की आदी है,
इस तट हरियर-हरियर, उस तट बर्बादी है,
मानकर कगार,
मुझे गंगा की धार हेर लेती ।

जल-तल में क्या है, कितना है, किसने जाना ?
सब की अपनी गति है, सब का अपना बाना !
मानकर सिवार
मछरिया मुझसे आँख फेर लेती हैं ।

मैं क्या हूँ
क्यों मुझको
सरसों की गंध घेर लेती है ?
गेहूँ की बाल टेर लेती है !
गंगा की धार हेर लेती है ?
किन्तु,
मछरिया मुझसे आँख फेर लेती है !

•

14 —

बात करते फूल सब,
लिपटे तने के संग ।
गुलहज़ारा खिला कितने रंग !

बरसती बूँदें टपाटप
काँपती, फिर थरथराती पंक्तियाँ;
धार का आवेग ऐसा
तैरने में उलट जातीं मछलियाँ ।
हरे तन पर उभर आते
श्वेत चिकने अंग ।
गुलहज़ारा खिला कितने रंग !

दूधिया कुछ बैंगनी
हल्के गुलाबी, लाल
कुछ घने इतने
कि प्रत्यंचा बना दी डाल
असम शर के धनुष की टंकार करती व्यंग ।
गुलहज़ारा खिला कितने रंग !

कभी देखा नहीं
इसमें खिला नीला फूल,
क्या हुआ ? क्यों लगा
विधि को वही रंग प्रतिकूल !
या इसे अनुकूल निर्मल गगन का आसंग
गुलहज़ारा खिला कितने रंग !

पृष्ठ संख्या—33

•

अनुभाग-दो

15 —

थके माथे पर
नयी उगती किरन,
स्पर्श-सुख;
एक उँगली
गिरे जल से खेल कर

कुछ लिख गयी ।

हर लिखावट कहाँ किसने पढ़ी,
और अपनी कलम से—
अनुभूत सब कुछ
कहाँ किसने लिखा ।

क्या हुआ जो
थके माथे पर
किरन का लेख
मैंने अनपढ़ा ही छोड़कर
स्पर्श-सुख ही लिया केवल;
अर्थ का संभार
सचमुच
कम नहीं पाया ।

•

16— झूठ का दायरा टूट के
ज्योति-पथ बने ।

जीवन के द्वार-द्वार
पवन संकल्पों की—
नव वंदनवार तने ।

जन-जन की छाती में
दबे बीज आस्था के

लगें जागने-उगने ।

नये दीप की लौ जैसी चमके
नयी दृष्टि,
स्वार्थों की काली झँझरी सी भी
अहरह आलोक छने ।

झूठ का दायरा टूट के
ज्योति-पथ बने ।

पृष्ठ संख्या—38

•

17 — हर तारा आँख है,
हर बादल पाँख है,
उफनाये दूध के सरोवर में
कुरल रहे — चंदा के अनियारे हंस की ।

किरनों की कमल-नाल तोड़ता
रह रहकर स्वर्गंगा की ग्रीवा मोड़ता,
लहरों पर तरलाये बिंदु-वृत्त छोड़ता,
तट पर सो जाता ले उजली काया थकी ।

हर तारा आँख है,
हर बादल पाँख है,

—चंदा के दुधियारे हंस की ।
—मर्मर से उजियारे हंस की ।

पृष्ठ संख्या—39

•

18 — जाने थी क्या चीज़ कि मन के भीतर टूट गयी ।
शीशी-सी थी एक मेज से गिरकर फूट गयी ।

क्षण भर में ही टूक-टूक हो सुन्दरता छितराई ।
बिखर पड़ी सब रूप-राशि युग-युग से रची रचाई।
सुधियों की रस-धार निगोड़ी धरती घूँट गयी ।
जाने थी क्या चीज़ कि मन के भीतर टूट गयी ।

बहुत दिनों के बाद पंथ का लेखा लेख रहा हूँ
पदचिह्नों की ओर आज मुड़-मुड़ कर देख रहा हूँ
अब आया है ध्यान कि मंजिल पीछे छूट गयी|
जाने थी क्या चीज़ कि मन के भीतर टूट गयी|

पृष्ठ संख्या—40

•

19 — पानी गहरा है पर थाह नहीं पाता हूँ ।
लहरों में अनचाहे लहर-लहर जाता हूँ।

कोलहाल धूल भरा तट कब का छोड़ चुका।
मन की दुर्बलताओं के बंधन तो चुका |
पर जाने क्या है—
जब गहरे में चलने को होता हूँ—
ठहर-ठहर जाता हूँ।
पानी गहरा है पर थाह नहीं पाता हूँ।

झिलमिल जल की सतहों के बीच सत्य दीख रहा ।
उसमें घुल जाने को
अपने ही पाने को
साँस-साँस तड़प रही— रोम-रोम चीख रहा ।

माना यह तत्वों की, मिट्टी की, जल की है ?
मन की तुलना में पर देह बहुत हलकी है।
इसको तट ही प्रिय है— चाह नहीं तल की है |
इसमें निर्मम हलकेपन से ही बँधा-बँधा—
जल के आर्वतन में छहर-छहर जाता हूँ।
पानी गहरा है पर थाह नहीं पाता हूँ।

पृष्ठ संख्या—41

•

20 — मत देख
अनिमेख
बहती नदी-रेख।

दुख ग्रीष्म का ताप—
तल तक रहा व्याप,
हर स्वप्न जलहीन—

बालू पड़ी मीन,
हर साँस के बीच अंगार अनदेख।

हर शब्द जलता हुआ स्वार्थ का दंश,
निर्माण की पंक्ति के बीच भू-भ्रंश,

आकाश संकल्प
पर शक्ति-कण-स्वल्प,
यह रेंगती धार
कैसे बुझा पायेगी दग्ध अंगार ?
झूठी हुई बात, धुँधले पड़े लेख।

मत देख
अनिमेख
बहती नदी-रेख।

पृष्ठ संख्या—42

•

21 — टेरो मत

बाँहों से मुक्त किया—
वाणी से घेरो मत।

दूर हूँ
दिशाओं का सारा व्यवधान चीर—
रह रह कर बोल रही
इन बड़री आँखों से
हेरो मत।
दया करो,

टेरो मत ।
टेरो मत ।
टेरो मत ।

पृष्ठ संख्या—43

•

22 — आँज गयी किरनें
परागकी धूल से
नयन स्वप्न-छबि-अंध
चाँदनी रात में ।
घूम रहा मन मुग्ध
सुरभि बाँहों भरे
पवन सदृश निर्बन्ध
चाँदनी रात में ।
आयी, कुछ चुपचाप—
कान में कह गयी
हरसिंगार की गंध
चाँदनी रात में ।

पृष्ठ संख्या—44

•

23 — भर-भर अँजुरी
पाँगर-गंध बिथोरती ।

पर्वत की कोमल बयार भी
अपनी गंधमादनी गति से
एक साथ ही
देह-प्रान झकझोरती ।

भँवरों की गुँजार टार कर
बिथुरी सौरभ कणिकाओं से
गुपचुप मधु-रस चोरती ।

भर-भर अँजुरी
पाँगर-गंध बिथोरती ।

पृष्ठ संख्या—45

•

24 — शिखरों से उतर रहे बादल जैसे रुई,

उर्ध्वमुखी गुच्छों की सुइयों से गेरुई—
चीड़ की कतारों से कसी-बँधी राह पर,
चितकबरी धूप बिछी चीतल की खाल-सी ।

रूपहली मछलियों-सी, झोंकों की धार में,
तैर रही बाँझों की पत्तियाँ बयार में,
मन की गहराई के भीतर तक झाँकती,
कूलों पर दीठ झुकी मजनूँ की डाल-सी ।

शुभ्र जलद-वलियत तरु हरित देवदारु के,
पल्लव-कर आशिष-सी देते रहते झुके,
पर्वत के गर्वोन्नत चट्टानी शीश पर,
निर्झरणी उलझ रही रेशम के जाल-सी ।

सिंदूरी नावों पर फहर रहे दूधिया—
पालों की नोकों ने जल का मन छू दिया,
हरी चटक लहरों पर थर-थर-थर काँपती
सूरज की परछाँई सोने के थाल-सी ।

काफल का स्वाद अभी होंठों पर सो रहा ।
जी यों ही बिखर-बिखर जाने को हो रहा ।
उस मरकत घाटी के आँचल की ओट में—
बादल-सा अटक रहा मेरा मन आलसी ।

झिल्ली की झनकारें, बेले के बोल-सी,
प्राणों में डोल रहीं हिलते हिंदोल-सी
अनचाहे दर्द उठा, पलकों पर छा गया,
सुधियों से आँख भरी बरसाती ताल-सी ।

पृष्ठ संख्या—46

•

25 — खोयी इन आँखों की आँख,
घने दारुका-वने ।

गुच्छों में खोये बरुनी के छोर ।
छाया में सोई है पुतली की कोर ।
हिम में मिल फैल गये कोये सब ओर ।
जो भी दे हेर, मिलें मोती नौ लाख,

घने दारुका-वने ।

तब से ये सपने में पागल-सी डोलतीं।
अपने से सुन लेतीं, अपने से बोलतीं।
घायल सीपी सी भर-भर मोती रोलतीं।
पातीं तो उड़ जातीं फैला कर पाँख,
घने दारुका-वने ।

पलकों में बंदी है मरकत-सा रूप ।
हिलती डालों से छनती पीली धूप ।
शिखरों से परस हुए बादल तद्रूप ।
उलझ रही, गरदाई शाखों से शाख,
घने दारुका-वने ।

पृष्ठ संख्या—47

•

26 — आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी |

अटकी ही रही दीठ
वह हिमगिरि-भाल ढीठ
मेरे ही आँसू के झीने पट ओट छिपी,
देखता रहा बेबस, दी नहीं दिखायी |
आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी |

पंक्ति-बद्ध देवदारु
रोमिल, श्लथ, दीर्घ, चारु
चंदन पर श्यामल कस्तुरी की गंध-सी
जलदों की छाया हिम-शृंगों पर छायी |
आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी |

शिखरों के पार शिखर
बिंध कर दृग गये बिखर
घाटी के पंछी-सी गहरे मन में उतरी,
बदरी - केदारमयी मरकत गहरायी |
आँख भर देखा कहाँ, आँख भर आयी |

पृष्ठ संख्या—48

•

27 — अगर तुम अंजलि न बाँधो,
क्या किसी को दे सकोगे,
एक मुट्ठी जल ?

अगर श्वासों को न साधो,
इस प्रखर संघर्ष-सरि में
ठहर पाओगे कहीं दो पल ?

अगर कोई भी न बोले
द्वार भीतर से न खोले
रहोगे बेबस बजाते
समय की साँकल ?
आज हो या कल ।

पृष्ठ संख्या—49

•

28 — (1) इतनी बड़ी जीत
कैसे सहेजूँ !

कुछ साध कर मौन,
कुछ पूछ कर कौन,
तुमने लिये जान
सब दाँव मेरे

बिखरा घने केश
सज पावसी वेश
तुमने दिये बाँध
फिर पाँव मेरे

होठों सिये होंठ
गालों पड़ी गोंठ
फिर काँप कर—
साँस में साँस खोयी

पैरों घिसा माथ,
बालों फिरा हाथ,
ममता — दबी
वासना में पिरोयी

यह हार-उपहार
किस देस भेजूँ !
इतनी बड़ी जीत
कैसे सहेजूँ !

पृष्ठ संख्या—50

•

29 — (2) इतनी बड़ी जीत कैसे सहेजूँ|

जब सत्य को जानना ही कठिन हो,
मैं कल्पनातीत कैसे सहेजूँ।
इतनी बड़ी जीत कैसे सहेजूँ।

हिम-पात से रुद्ध थी वारि-धारा—
किसने उसे सिंधु-तल से पुकारा—
अब क्षुब्ध बड़वाग्नि की आँधियों में,
पिघला हुआ शीत कैसे सहेजूँ।

व्यक्तित्व की खोज तन के सहारे,
मथते रहे अंत तक मन हमारे,

तपती हुई वासना के करों में,
मैं स्नेह - नवनीत कैसे सहेजूँ।

समरूप हो जो सृजन में, प्रलय में,
आरोह-अवरोह, स्वर-ताल, लय में,

दम - घोटती रोज़ की उलझनों में,
वह प्राण - संगीत कैसे सहेजूँ।

पृष्ठ संख्या—51

•

अनुभाग-तीन

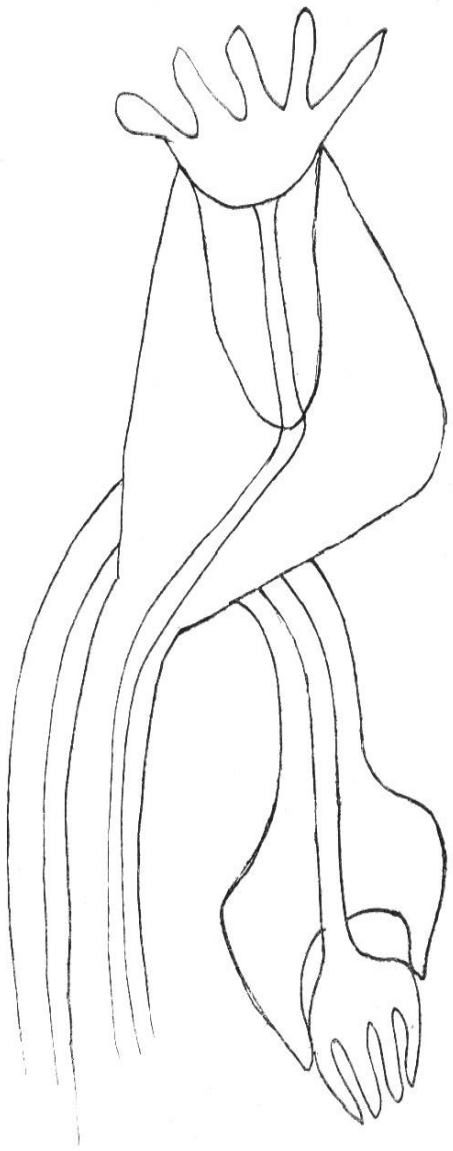

30 — तरुनाई-सी खिली जुन्हाई घुले पुलक से प्रान।
किसने चूमा चाँद कि मुख से मिटते नहीं निशान।

किरन-किरन से रूप बरसता, नखत-नखत से प्यार।
डूबा जाता गगन ज्योति की लहरों में सुकुमार।
प्रानों की उज्जवल पावनता रही क्षितिज तक व्याप।
घुल-मिल बैठे चाँद-चाँदनी किया न कोई पाप।

पीपल का हर पात चमकता जैसे जल में सीप।

देह-देह से दूर, प्रान के फिर भी प्रान समीप ।
अरे ! बह चला पवन कँप उठी पतली टहनी एक।
चपल पत्तियों के मर्मर में लय हो रहा विवेक।

रहें सदा आकाशबेल के बन्धन तरु को छाये।
सिहर-सिहर कर लहर कूल की बाँहों में लहराये।
तनिक न स्वर हो अगर कहीं से टूटे कभी कगारा।
कभी न चंदा की परछाईं से सूनी हो धारा।

साँस साँस से मिली, सुन रही प्रानों का संगीत।
सुख से भीगी रात, सो गया दुख से भरा अतीत।

पृष्ठ संख्या—55

•

31 — चाहता है जो
उमड़ कर डूब जाये
देख बहती—
पाश में आकाश के
व्योम-गंगा की उजास-लहर।

जी उठे मर कर जिसे छू जाय
चाँदनी की देह
किरनों का सफ़ेद ज़हर।

कितनी शांत
कितनी असह
यह उजाली रात
पिछले पहर।

पृष्ठ संख्या—56

•

32 — मैंने पुकारा फिर तुम्हें।

आँसू दृगों से ढुल गये।
बंधन स्वरों के खुल गये।
इस डूबती-सी साँस ने—
समझा सहारा फिर तुम्हें।
मैंने पुकारा फिर तुम्हें।

अलकें शिथिल उलझी हुई।
पर दृष्टियाँ सुलझी हुई।
छिप चाँदनी के फूल में—
मैंने निहारा फिर तुम्हें।
मैंने पुकारा फिर तुम्हें।

उमड़ी, उठीं, झिझकीं झुकीं।
लहरें झलक पा कर रुकीं।
मँझधार के आवेग ने—
माना किनारा फिर तुम्हें।
मैंने पुकारा फिर तुम्हें।

•

33 — यह चाँद ज्योति का कमल-फूल।
तारक छितरे किंजल्क - जाल,
ज्योत्सना पराग की धवल धूल ।
यह चाँद ज्योति का कमल – फूल ।

उर का कलंक काला भँवरा ।
कन - कन में अमृत - मरंद भरा ।
रस की बूँदों में सनी पाँख।
उन्मद मदमाती मुँदी आँख।

मूर्छित प्रमत्त श्लथ विसुध गात,
बेबस उड़ना तक गया भूल।
यह चाँद ज्योति का कमल-फूल।

नभ-सर में उठती विभा - लहर।
जाते मुकुलित दल छहर - छहर।
बहता सुगंध मधु - मुग्ध पवन।
खिल उठता निशि का पंकज-वन।
झर झर झर सब दल झरे, धरा—
पहने पाँखुरियों का दुकूल।
यह चाँद ज्योति का कमल-फूल।

बल खा जातीं बाँहें – मृणाल ।
तिर-तिर जाते लोचन – मराल ।
बादल पुरइन के हरित पात ।
कँप - कँप उठते हिम – बिंदु - स्नात।

धड़कन के पावों में कोमल,
चुभ-चुभ जाते घन-किरन-शूल।
यह चाँद ज्योति का कमल-फूल।

•

34 — यह रुपहली छाँह वाली बेल।

कसमसाते पाश में बाँधे हुए आकाश,
तिमिर-तरु की स्याह शाखों पर खिले,
नखत-कुसुमों से रही है खेल।

यह रुपहली छाँह वाली बेल।

रश्मियों के वे सुकोमल तार,
लहराता गगन से भूमि तक
जिनके रजत आलोक का विस्तार,
उलझे रात के हर पात से सुकुमार।

इस धवल आकाश - लतिका में,
झूलता सोलह पँखुरियों का अमृतमय फूल,
गंध से जिसकी दिशाएँ अंध,
खोजती फिरतीं अजाने मूल से संबंध।
वल्लरी निर्मूल—
फिर भी विकसता है फूल
है रहस्य भरा हृदय से हर हृदय का मेल।

हर जगह छायी हुई है,
यह रुपहली छाँह वाली बेल।

पृष्ठ संख्या—59

•

35 — इस समीरन में मिली होगी तुम्हारी साँस भी।

उर्मियों का प्यार पा कर झूमने वाले झकोरे
छू रहे होंगे तुम्हारे ज्वारवाही अंग गोरे।
देख शशि का आ रही होगी तुम्हें भी याद मेरी,
चाँदनी फैली हुई होगी तुम्हारे पास भी।
इस समीरन में मिली होगी तुम्हारी साँस भी।

ये रुई के पहल से हलके धवल बादल विचारे।
जा रहे प्रतिपल तृषाकुल स्वर्ग-सरिता के किनारे।

ये विरल छिटके नखत, ये दूध छलकाती दिशाएँ,
छा रहा होगा तुम्हें यह स्वप्न-सा आकाश भी।
इस समीरन में मिली होगी तुम्हारी साँस भी।

एक सूनापन, पलक के छोर पर दो बूँद जन-कन।
हृदय की कातर पुकारें, पीर की लाचार छलकन।
जिस तरह हर दूब की आँखें भरी-सी हैं यहाँ पर,
ठीक वैसे ही सजल होगी वहाँ की घास भी।
इस समीरन में मिली होगी तुम्हारी साँस भी।

पृष्ठ संख्या—60

•

36 - यह चंदन-सा चाँद महकता, यह चाँदी-सी रात|
क्यों नयनों से रूप कह रहा—सुनो हमारी बात|

झुकते पलक कि दूर क्षितिज तक छा जाता तम-तोम|
खुलते नयन कि फिर आभा से लहरा उठता व्योम|
अधरों पर मुसकान कि पर खोले हंसों की पाँत|
क्यों नयनों से रूप कह रहा—सुनो हमारी बात|

हिलती अलक कि कँप उठती तम से पंथी की राह|
वेणी खुली कि शेफाली की नत डाली की छाँह|
साँसें जातीं भीग कि लाती पुरवाई बरसात|
यह चंदन-सा चाँद महकता, यह चाँदी-सी रात|

देह लहरती या कि लहर को देता पवन झकोर|
अविरल बोल कि जल में वर्षा की बूँदों का शोर|
शरमीले से गात कि जैसे छुईमुई के पात|

सुनो हमारी बात |
यह चाँदी-सी रात |

पृष्ठ संख्या—61

•

37 - हिम-धवल वक्ष की घाटी में उगते-उगते खो गया चाँद।

नभ को छूता छवि का उभार।
बहते प्रकाश - निर्झर अपार।
लहराता तारक - मुकुल हार।
फिर छलक-छलक उठता दुलार।
बादल से फैले आँचल की छाया में लय हो गया चाँद।
हिम-धवल वक्ष की घाटी में उगते-उगते खो गया चाँद।

किरनों की सित पाँखें समेट।
नत पलकों में आँखें समेट।
तन्द्रालस रस में झूम-झूम।
पुलकन की कलियाँ चूम-चूम।

शीतलता के मृदु शृंगों पर फिर सिर रखकर सो गया चाँद।
हिम-धवल वक्ष की घाटी में उगते-उगते खो गया चाँद।

अंगों पर लहर जुन्हाई की।
कर रही लाज परछाई की।
रश्मियाँ रच रही नये कूल।
जिनमें जाता पथ तिमिर भूल।
उस विमल रूप की गंगा के जल से कलंक धो गया चाँद।
हिम-धवल वक्ष की घाटी में उगते-उगते खो गया चाँद।

पृष्ठ संख्या—62

•

38 — सुकुमार चाँदनी रही झूल,

उन्मत्त चाँद की बाँहों में।

उर पर लहरे काले कुंतल।
ज्यों उमड़ चलीं यमुना की लहरें,
डूब गये दो ताजमहल।
पुलकित सपनों की चहल - पहल।
किरनें भोलापन गयीं भूल,
तम - सघन कुँज की छाँहों में।
सुकुमार चाँदनी रही झूल,
उन्मत्त चाँद की बाँहों में।

अधरों पर जूही उठी विहँस।
आकाश - कुमुदिनी की—
पाँखुरियाँ अंग - अंग पर गयीं बरस।
मन हरसिंगार - सा उठा विकस।
खिल उठे स्पर्श के विपुल फूल,
रस-स्निग्ध प्रणय की राहों में।
सुकुमार चाँदनी रही झूल,
उन्मत चाँद की बाहों में।

नत पलकों में अधमुँदे भँवर।
ज्यों खोल रहे धीरे - धीरे—
घन वरूनिजाल में उलझे पर।
साँसें सुनतीं साँसों के स्वर।
खिंच गया लाज का श्लथ दुकूल,
अनगिन अनबोली चाहों में।
सुकुमार चाँदनी रही झूल,
उन्मत्त चाँद की बाहों में।

•

39 — किसी के रूप का आकाश धरती पर उतर आया।

न किरनों में लहर आयी,
न उजली चाँदनी छायी,
किसी के रूप का आकाश धरती पर उतर आया।

सघन सुकुमार झुरमुट में, सितारे फूल बन बैठे।

बहा आलोक प्रानों में, अधर युग कूल बन बैठे।
रुपहली रश्मियों के बीच केंचुल-सी खुली वेणी,
तिमिरमय ज्योति का आभास धरती पर उतर आया।
किसी के रूप का आकाश धरती पर उतर आया।

अधर पर अधर, गूँजी राधिका के प्राण की वंशी।
तनी टूटी, गयी खुल कंचुकी, मधु-मुग्ध युदवंशी।
हृदय की धड़कनें संगीत के स्वर ढाल कर बोलीं,
पुनः गोलोक का रस-रास धरती पर उतर आया।
किसी के रूप का आकाश धरती पर उतर आया।

लजाकर झुक गयीं आँखें, तनिक शरमा गयी पूनो।
कपोलों की पुलकित लालिमा पर छा गयी पूनो।
अमृत वर्षा हुई, भीगे नयन, मन, प्राण, तन, जीवन,
शरद-श्री का धवल उल्लास धरती पर उतर आया।
किसी के रूप का आकाश धरती पर उतर आया।

पृष्ठ संख्या—64

•

40 — वह रात अमर।

आलोक-तरल नभ,
रश्मि-खचित लहराता वासव का
दुकूल।

छितरे तारक,
अधखुली शची की वेणी के
अधखिले फूल।
छवि-सघन कुंज,
भोले-भाले तरु खड़े स्वर्ग के प्रहरी से।

ऐरावत के कानों जैसे,
हिलती कदली के पात
अमर।
वह रात अमर।

तम की अलकों को बिखराकर
बह चली

भुरहरे की बतास;
निशि के अधरों पर
उतर रहा
अधजगे प्रात का सहज हास।

मुँद जाते दोनों दृग
अनन्त सपनों का सौरभ भार लिये।
आभा की किरनों से
छूकर,
खिलते सुधि के जलजात
अमर।
वह रात अमर।

पृष्ठ संख्या—65

•

41 — बादल घिर आये री बीर !

फिर-फिर आये,

घिर-घिर छाये,

गरज-तरज गंभीर

बादल घिर आये री बीर !

नैना रोये,

आँसू बोये,

तभी गगन से फूट धरा पर,

बरसा इतना नीर।

डगमग नैया,

फिर पुरवैया—

पाल समझकर लिये जा रही

खीचें मेरा चीर।

पृष्ठ संख्या—66

•

अनुभाग-चार

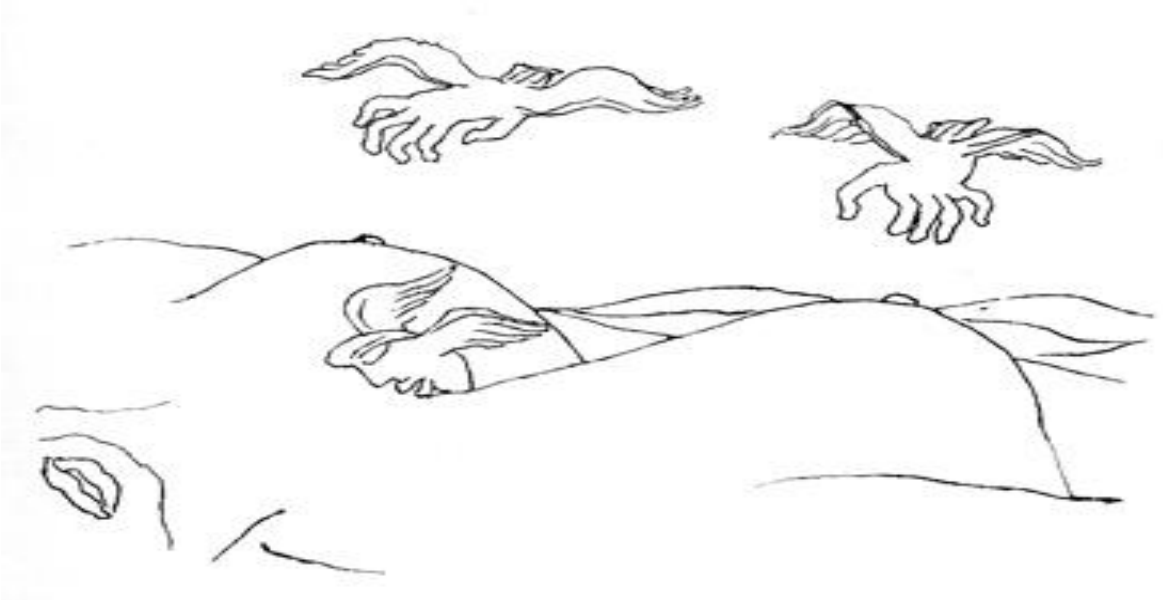

42 - छा गयी हो तुम हृदय में, प्रान में, वन-वल्लरी सी।
सघन सुधि की छाँह में बहती सुरभि की निर्झरी सी।
खो गयीं तुममें न जाने क्यों स्वयं ही भावनाएँ,
रिक्त उर का कह रही इतिहास आँख भरी-भरी सी।
भीग मेरे अश्रु से खिल जायँ मुसकानें तुम्हारी,
हृदय की, मन की, नयन की चारुता चिर चारुतर हो।
रूप अक्षय हो तुम्हारा, मुग्धता मेरी मअमर हो।

बढ़ चलूं मैं प्यार पथ पर प्रेरणाओं को सँजोये।
ले वही गति श्वास बोझीले हृदय का भार ढोये।
बीन ले जाये समीरन भाल के श्रमबिंदु सारे,
तारकों-सी ज्योति देकर रश्मि-तारों में पिरोये।
धुल तुम्हारे हास से मेरा रुदन चमके जगत में,
घुल तुम्हारे मौन में इस कल्पना की मति मुखर से।
रूप अक्षय हो तुम्हारा, मुग्धता मेरी अमर हो।

छवि - सुधाकण की क्षुधा से लालसाएँ चंचु खोलें।
विहग-शावक के परों से अथक भोले पलक डोलें।
स्वाँति के दो बूँद में सारी पिपासा डूब जाये,
धैर्य के तिनके विरह की वीचियों के साथ हो लें।
सरि ! मिलो तुम जग-जलधि में कूल से प्रतिकूल होकर
मैं अकेला स्वप्न देखूँ, चाँद से लिपटी लहर हो।
रूप अक्षय हो तुम्हारा, मुग्धता मेरी अमर हो।

पृष्ठ संख्या—69

•

43 — क्षीर - सागर में नहाकर लौट आयी रात।
दूध में भीगे अभी तक चाँदनी के गात।

देह से चिपका बरफ-सा श्वेत शीत दुकूल।
नखत—वेणी में रहे उलझे जुही के फूल।

बह गये कुछ लहरियों के साथ दूर अकूल।
और यह शशि—भेंट कमला ने किया जलजात।
क्षीर-सागर में नहाकर लौट आयी रात।

ओस—गीलापन वसन का बन रहा ज्यों बूँद।
लग न जाय वयार द्वार रहीं दिशाएँ मूँद।
कह रहीं किरनें अभी दें कुन्तलों को गूँद।
काँपता तन—हिल रहा सुकुमार पुरइन पात।
क्षीर-सागर में नहाकर लौट आयी रात।

व्योम - गंगा की धुली सारी पहन चुपचाप।
कंचुकी में वद्ध यौवन, पुण्य के सँग पाप।
अधर पर स्मिति रही प्राणों के पुलिन तक व्याप।
गगन के उर में सिमट करती प्रणय की बात।

क्षीर-सागर में नहाकर लौट आयी रात।
दूध से भीगे अभी तक चाँदनी के गात।

पृष्ठ संख्या—70

•

44 — कन-कन का हृदय रस-स्नात।
सीझे चाँदनी के गात।
वसुधा पर सुधा के विन्दु।
छलकता गगन से इन्दु।
भीगी लहर की पगचाप,
भीगे कूल के संकेत।
भीगी रात, भीगी रेत।
प्रानों में किरन को मूँद।
लुकछिप झिलमिलाती बूँद।
शबनम की नमी निर्दोष।
सब को कर रही मदहोश।
भीगी श्लथ पवन की साँस,
भीगी कुसुम-गंध अचेत।
भीगी रात, भीगी रेत।

दे आलोक को गलबाँह।
सिमटी जा रही सब छाँह।
छिप-छिप देख रस की बात।

रह-रह डोल उठते पात।
भीगे हृदय स्नेह-विभोर,
भीगी देह श्यामल-श्वेत।
भीगी रात, भीगी रेत।
बिखरे बादलों के टूक।
मधु संदेश देते मूक।
कोई दूर का संगीत।
देता चीर-चीर अतीत।
भीगी दृष्टि सुधि के साथ,
भीगे नयन स्वप्न समेत।
भीगी रात, भीगी रेत।

पृष्ठ संख्या—71

•

45 — चाँदनी का श्वेत कदली-वन।

धवल बादल पात से हिलते पवन में।
भूल कर आना न तुम इस काम-वन में।
पंथ में इसके बिछी इन्दीवरों की पाँत।
महक उठता मन।
चाँदनी का श्वेत कदली-वन।

चाँद के उजले हिरन चंचल मचलते।
रश्मियों की राह पर चुपचाप चलते।
तरल आँखों से निरखते,बीत जाती रात |
ज्यों प्रभात सपन।
चाँदनी का श्वेत कादली-वन।

हर पुलक, हर कंप, हर स्पंदन भटकता।
हर दिशा में टूट कर जीवन अटकता।
पहुँच पाती कहाँ कोसों तक हृदय की बात।

कस गये बंधन।
चाँदनी का श्वेत कदली-वन।

पृष्ठ संख्या—72

•

46 — धरती अंबर से कहाँ अलग, अंबर धरती से कहाँ दूर।

धरती की साँसों का समीर छू रहा गगन के छोर-छोर।
नभ के नयनों की बूँदों से धरती का आँचल सरावोर।
किरनों के पावन अंतराल में हुआ हृदय का अंतर लय।
जो कुछ दूरी-सी लगती है अब रही उसे चाँदनी पूर।
धरती अंबर से कहाँ अलग, अंबर धरती से कहाँ दूर।

सागर की व्याकुल लहर-लहर में आवाहन हो मुखर रहा।
काँपती सलिल में नखत-पाँत ज्यों स्वर्ग भूमी पर उतर रहा।
इस भूतल का कोई कोना निस्सीम शून्य से शून्य नहीं।
अणु-अणु में भी आकाश व्याप्त कोई कर देखे चूर-चूर।
धरती अंबर से कहाँ अलग, अंबर धरती से कहाँ दूर।

प्रतिपल पुलकित परिरम्भ विपुल घुलते मिलनातुर प्रानों में,
खुलते दल, चुंबन-मुकुल विकस कर छिप जाते पारिधानों में।
आभा के अनगिन फूल बिछे भू की कक्षा के आस-पास,
अब आवर्तन प्रत्यावर्तन कितने ही लाये काल क्रूर।
धरती अंबर से कहाँ अलग, अंबर धरती से कहाँ दूर।

पृष्ठ संख्या—73

•

47-

धरती की पिपासा देख,
भर कर लोचनों में मेघ,
करता मैं गगन को याद।

सोते यूथिका के स्वप्न,
तन्द्रिल तरु उनींदे पात।
आकुल बाहुओं के बीच,
कस कर वल्लरी के गात।
बेसुध वृंत से झुक - झूम,
करते कुसुम सौरभ-दान।
जाते लाज से जब भीग,
किसलय के अरुण अरमान।
तब तज एक गहरी श्वास,
छू-छू कर मलय के अंग,
करता मैं पवन को याद।

भय से काँपते नक्षत्र,
मावस में हुआ लय सोम।
निष्प्रभ नभ, उदास प्रभात,
लहरें ले रहा तम-तोम।
मूर्छित शव समान प्रकाश,
फैला तिमिर-गरल कराल,
आकर डस गये चुपचाप,
निशि के कुन्तलों के व्याल।

पुतली की तिमिस्रा भूल,
रँग कर किरने से दृग-कोर,
करता ज्योति-घन को याद।
सूखे कुसुम, सूखी ओस,
सूखे वृंत, सूखी डार।
सूखे पात, झरते अश्रु,
कब से रो रहा पतझार।
मन-वन में गयी लग आग,
लपटों में लताएँ लीन।
धू-धू जल उठा मधुमास,
नीरस सर, तड़पते मीन।
पर मैं सोच बीती बात,

पीकर मुकुल की मुसकान,
करता ओस-कन को याद।

इस जग में कहाँ किस ठौर,
दो मन मिल सके निर्बाध।
जी की कह सके कब बात,
पूरी हो सकी कब साध।
दो दिन के मिलन में कौन,
किसका क्या करे विश्वास।
जीवन एक गिरती भीति,
जीवन पीर, जीवन प्यास।
पर मैं जगत की गति भूल,
खोकर प्राण, होकर रंक,
करता प्राण-धन को याद।

करता ओस-कन को याद,
करता ज्योति-घन को याद।
भर का लोचनों में मेघ,
करता मैं गगन को याद।

पृष्ठ संख्या—74-75

•

48 — सँवारा चाँदनी ने चाँद को आलोक-पथ देकर।

धरा के पास केवल आँसुओं के अनमने कन थे।
उन्हीं में झिलमिलाते चाँद के प्रतिबिम्ब उन्मन थे।
नयन में प्यार भर कर कौन बरसाता हृदय आया,
कि सब कुछ उन क्षणों में लीन था, जीवन वही क्षण थे।
गगन का द्वार दिखलाया प्रणय का रश्मि-रथ देकर।
सँवारा चाँदनी ने चाँद को आलोक-पथ देकर।

बही रसधार, लहरों ने थिरक कर ज्योति को चूमा।
किसी की आँख में निज रूप लखकर चाँद फिर झूमा।
लजीले इंगितों पर नाच उठते थे विभा के स्वर,
जिधर भी प्राण लहराये, उधर आलोक-पथ घूमा।
नयन में छा गये सपने मधु-भार शलथ देकर।

सँवारा चाँदनी ने चाँद को आलोक-पथ देकर।

अधर पर वेणु के कोमल अधर वादन बने रसमय।
पलक-संपुट झुके दृग स्नेह सम्वादन बने रसमय।
किरन-संगीत की लहरें मृतक में प्रान भर लायीं |
हृदय के तार मिलकर प्रीति- प्रतिदान बने रसमय |
दिये नव प्राण इति को एक बार नवीन अथ देकर।
सँवारा चाँदनी ने चाँद को आलोक-पथ देकर।

पृष्ठ संख्या—76

•

49 — छिपाया चाँदनी ने चाँद को निज वक्ष के नीचे।

धनुष-सी हो गयी दुहरी उलझ कर कंठ से बाँहें।
सुकोमल शिंजिनी जैसी खिंची-सी रह गयीं चाहें।
पलक ने पुतलियाँ झाँपी।
शिथिल हो उँगलियाँ काँपी।
स्वयं ही बिंध गया मधुवाण अपने लक्ष के नीचे।
छिपाया चाँदनी ने चाँद को निज वक्ष के नीचे।

खुली वेणी कि बलखाती हुई यमुना लहर आयी।
कपोलों पर बही निश्वास की मासूम पुरवाई।
पुलक में घुल गये बंधन |
बँधे फिर खुल गये बंधन |

लता के गात अलसाने लगे नत वृक्ष के नीचे।
छिपाया चाँदनी ने चाँद को निज वक्ष के नीचे।

किरन की टहनियों में फूट आयी ज्योति की कोंपल।
अधर से अधर, दृग से दृग मिले, पर मिल सके दो पल।
उठी बज ओस की पायल।
कुसुम-शर कर गये घायल।
न क्रौंची रोक पायी क्रौंच को शलथ पक्ष के नीचे।
छिपाया चाँदनी ने चाँद को निज वक्ष के नीचे।

•

50. नखत-नयनों से चकित हो गगन से उस पार देखा।
उगी ध्रुव के पास निर्मल दूज की सुकुमार रेखा।
झूम कर पागल पवन ने,
छू दिया मन वल्लरी का।
अंक में गिरि के बिखरने को
विकल उर निर्झरी का।
हृदय में कलि के सरस सौरभ सने अरमान जागे।
अधर में रसलुब्ध अलि के मधुर गुंजन गान-जागे।
चाँदनी की सलज पलकें झुक गयीं विधु को निरख कर।
प्राण विद्युत के मचलने से लगे मधु-मेघ लखकर |
एक लहरी बढ़ चली नव हरित तट के पद परसने।
एक कादम्बिनि उमड़ आयी विरस वन में बरसने।
बाँधने तम को चली हैं स्वर्ग - सरि की युगल बाँहें।
किरन ने आकर जगा दीं जलज की निशि-सुप्त चाहें।
प्रीति के बन्धन अमर हों।
प्यार के कंपन अमर हों।
अधखिले सपने सजाकर,
अधखुले लोचन अमर हों।
अमर हो यौवन, अमर हो प्रणय की नूतन कहानी।
अमर हो विश्वास, युग युग तक अमर हो मूक वाणी।

•

51 - काश, यह आकाश अपना नीड़ होता।

चाँदनी की मदभरी बिखरन निरख कर।
चाँद की मृदु गोद में श्लथ शीश रखकर।
कुसुम तारों के, किरन-तिनके बिछाकर।
चटुल पाँखों को समेटे, स्नेह पाकर।
डूबकर सुधि में किसी नीहारिका की,
मैं विहग-शावक सदृश चुपचाप सोता।
काश, यह आकाश अपना नीड़ होता।

स्वप्न बनकर तुम दृगों के पास आते।
दामिनी बनते थिरकते, झिलमिलाते।
बादलों-सा लहरता आँचल तुम्हारा।
अधर में घुलती सुधा की एक धारा।
नींद में ही भाग्य मेरे जाग जाते।
मै तुम्हारे श्रम-कणों से तन भिगोता
काश, यह आकाश अपना नीड़ होता।

तरुण अरुणाई छलक उठती उषा बन।
छवि-मधुरिमा बरस जाता सरस सावन।
झूमतीं निश्वास - मलयज की झकोरें।
कुछ जगी-सी, कुछ रँगी-सी नयन-कोरें।
प्रात-पलकों में उनींदा जागरण ले,
मैं वरुनियों में करण बूँदें पिरोता।
काश, यह आकाश अपना नीड़ होता।

पृष्ठ संख्या—79

•

52 — घनी काली बड़ी आँखें।

पुतलियों में झलकती छाँह, कच्चे दूध से कोये ।

लजाते लाल डोरे, वन-कमल-दल ओस से धोये ।

चुरा लायी कहाँ से चाँदनी यह मोर की पाँखें ।

घनी काली बड़ी आँखें ।

तितलियों के परों से पलक, काली रात कोरों पर।

मछलियाँ तैर आतीं रूप के गोरे कटोरों पर ।

निगाहों में उलझ कर लचकतीं अंगूर की शाखें ।

घनी काली बड़ी आँखें ।

पृष्ठ संख्या—80

•

53— मेरी सुधि की तरलाई के जल-कन भर लायी-सी कुछ-कुछ ।
छलकन में डूबी-डूबी-सी शिथिल डबडबायी-सी कुछ-कुछ ।
सपने में भी विलग न होतीं सपनों से, सपनों की सखियाँ ।
बड़ी-बड़ी वे तेरी अँखियाँ ।

सरल दीठ में सुरभि बिछलती,
चितवन में पराग घुलता-सा ।
कोयों में उज्जवल कंपन से,
पंखुरियों का मुख धुलता-सा ।
उठ-उठ गिरतीं कोमल पलकें, सतरंगिनी तितली की पँखियाँ ।
बड़ी-बड़ी वे तेरी अँखियाँ ।

एक बेबसी की मसलन में सब आँसू के बूँद बह गये ।
उलझ वरुनियों की कोरों से कुछ करुणा के चिह्न रह गये ।

थोड़े जल में विकल हो उठीं झिप झिलमिल चाँदी की झखियाँ।
बड़ी-बड़ी वे तेरी अँखियाँ।

अनियारी कोमल कमरखियाँ।
बड़ी-बड़ी वे तेरी अँखियाँ।

पृष्ठ संख्या—81

•

54 — मैं नहीं चाहता स्मिति लाचार अधर की।
मैं नहीं चाहता प्रतिमाएँ पत्थर की।
गहरी चोटों की चाह जगी है मन में,
मैं नहीं चाहता तन्मयता क्षण भर की।
जो युगों-युगों तक बुझ न सके आँसू से,
पलकों में भरकर ऐसी प्यास पिला दो।
इन नयनों से फिर एक बार मुसका दो।

इन लाज भरे पुलकित गालों पर गोरे।
तरुणाई के संकेत अभी हैं कोरे।
सुन्दरता के आवरणों में छिप-छिप कर,
यौवन पुतली पर डाल रहा है डोरे।
इस छलिया के छल की छाया सोई,
अनगिन अभिलाषाओं का भाग जगा दो।
इन नयनों से फिर एक बार मुसका दो।

अपनी आँखें पंकज-पाँखों में देखो।
अपने आँसू हिमकण लाखों में देखो।
क्यों शीश झुका कर बैठ रहे हो मानी!
अपनी छवि को मेरी आँखों में देखो।
तुम पर जूही की कलिकाएँ मुसकायीं।
तुम भी उन पर अपनी मुसकान लुटा दो।
इन नयनों से फिर एक बार मुसका दो।

पृष्ठ संख्या—82

•

55 — रिमझिम-रिमझिम बरसे चुम्बन।
धरती भीगी अम्बर भीगा,
घुल गये पुलक प्रानों के घन।

साँसों में बहती पुरवाई।
चुपके-चुपके मन की बातें बादल से कहती पुरवाई।
बरसो-बरसो उज्जवल बूंदें,
अलकों, पलकों, नयनों, अधरों पर बिखरा दो अविरल बूँदें।
रस से रसमस सुनता बादल,
बाँहों में कसे दामिनी को शत-शत चुम्बन चुनता बादल।
बरसा-बरसा रसधार धवल,
करता तन मन जीवन पावन।
रिमझिम रिमझिम बरसे चुम्बन।

झुक गये पलक, खुल गयी अलक,
अधरों पर अरुनाई सँवार रस की रेखाएँ उठीं छलक।
सिमटे अलसाये धवल वसन,
धड़कन की गति में वेग किन्तु स्पर्शों से भारी शिथिल श्वसन।
पुलकित कपोल पर खिले फूल,
मुसकान लहर-सी उठी और छू गयी अधर के युगल कूल।
दाँतों की पाँतों में झिलमिल-झिलमिल
छवि की सिकता के कन।
रिमझिम-रिमझिम बरसे चुम्बन।

पुतली में काली रात छिपी,
भारी पलकें ज्यों वरुनी की कोरों पर कोई बात छिपी।
सूरज चंदा से सजा वक्ष,

झुक रही देह संकोच भरी परिचित भुजपाशों के समक्ष।

भूली भटकी-सी अजब नजर,
ज्यों किसी आम की टहनी पर बैठी कोई कोयल छिपकर।
मँजरियों में मंजीर बज रहे,
थिरक-थिरक उठता मधुवन।
रिमझिम-रिमझिम बरसे चुम्बन।

पृष्ठ संख्या—83-84

•

56 — शिथिल साँसों से सिहर कर
पुष्प की किस पंखुरी ने,
हृदय के कोमल पटल पर,
प्यार की रेखा बना दी|
रह गया मैं देखता ही|

उलझ आपस में गये स्वर,
उँगलियों की आतुरी ने,
एक ही आघात दे कर,

बीन सारी झनझना दी|
रह गया मैं देखता ही|

झुक गया कुछ और अम्बर
उन दृगों की माधुरी ने,
पलक प्यालों में सुरा भर,
जब मुझे बरबस पिला दी|
रह गया मैं देखता ही|

पृष्ठ संख्या—85

•

57 —

तुम्हारे नयन में घुले स्वप्न मेरे,
तुम्हारे प्रणय में मिला प्यार मेरा।

हृदय-पाँखुरी पर सुरभि-रेख-सी तुम।
प्रणय की उषा में अरुण लेख-सी तुम।
विरह के गहन दग्ध निश्वास-वन में।
छिपी स्नेह की साँस अनदेख-सी तुम।
तुम्हारी अलक पर किरन सो रही है,
तुम्हारे दृगों में छलकता सवेरा।

तिमिर-मेह से ज्योति के गान भीगे।
तरल हो चली प्यास, अरमान भीगे।
तुम्हारे अरुण स्वप्न में लीन लोचन,
तुम्हारे सजल ध्यान से प्रान भीगे।
तुम्ही चाँदनी बन धरा पर उतरतीं,
तुम्हीं रश्मियों से चुरातीं अँधेरा।

मुखर हो चली लाज की मौन भाषा।
गया प्रात की धूल में मिल कुहासा।
उठीं झूम विश्वास की व्यस्त बाँहें,

थिरकने लगी पोंछकर अश्रु आशा।
तुम्हारे अधर ही बने चुम्बनों के—
विहग-शावकों की निशा का बसेरा।

पृष्ठ संख्या—86

•

58 - पुलक उठे पलकों में छवि-कन|
मचल गया अंगों में यौवन।
वे चंचल आँखें अनजाने खींच गयीं अंतर पर रेखा।
रात तुम्हें सपने में देखा।

घुल मिल जाने की विह्वलता।
दृढ़ भुज-पाशों में अविचलता।
अपने को खोकर, पागल प्राणों ने पाया प्यार अलेखा।
रात तुम्हें सपने में देखा।

जानें क्यों उदास से तुम थे
धूल भरे अधखिले कुसुम थे।
चिंताओं के बादल-दल में डूब रही जैसे विधु-लेखा।
रात तुम्हें सपने में देखा।

पृष्ठ संख्या—87

•

59 — जीवन के पथरीले पथ पर|
मैं असहाय मनोरथ-रथ पर|
मेरी अकलुष अभिलाषा को एक हृदय अविकार मिल गया |
मुझे स्वप्न साकार मिल गया |

अब न मुझे अपवर्ग चाहिए |
और न कल्पित स्वर्ग चाहिए |
बंधन की नूतन दृढ़ता में, मुझे मुक्ति का द्वार मिल गया |
मुझे स्वप्न साकार मिल गया |

मेरे पलक लीन सपनें में |
मेरा नीड़ पूर्ण अपने में |
नयनों का निर्देश पा चुका, अधरों पर अधिकार मिल गय |
स्वप्न साकार मिल गया |

पृष्ठ संख्या—88

•

60 — विमल दामिनी की सुस्मृति से दोनों दृग जलदाभ हो उठे ।
स्नेह - दीप की एक किरन से सब आँसू पीताभ हो उठे ।

आँखों के असीम आँगन में बरस रहा अंबर से सोना ।
पुलकित मन का कोना-कोना ।

कितना मधुर चपल पलकों में मन के सजल विचार गूँथना ।
कितना सरस प्रथम किरनों से ओस-बिंदु के हार गूँथना।
आशा के सुकुमार तार में कितना सुखकर प्यार पिरोना।
पुलकित मन का कोना-कोना।

मेरे निश्वासों ने प्रतिमा के अंचल में भी गति ला दी।
मेरे अर्चन ने पत्थर को भी प्राणों की याद दिला दी।
आज नवल पावन तुलसीदल से पूरित पूजा का दोना।
पुलकित मन का कोना-कोना।

पृष्ठ संख्या—89

•

61 — केवल इतना ही बल आगे मेरी गति मेरा पथ होगा।
लीन तुम्हारे स्नेह-सने नयनों में मेरा इति-अथ होगा।
मेरी साँसों के अविकल चलने का केवल एक सहारा।
है मुझ पर विश्वास तुम्हारा।

शशि की रजत राशि के नीचे लघु-लघु लहरों का नव नर्तन।
जल की हलकी-सी हिलोर सिकता के कण-कण में परिवर्तन।

आज मुड़ चली स्नेह-सिंधु की ओर क्षुब्ध जीवन की धारा।
है मुझ पर विश्वास तुम्हारा।

अरे कहीं फँस जाय न मेरी मधुराई का पैर पंक में|
मेरी आशा को आश्रय दो अपने सुख-सुकुमार अंक में|
मैं पल भर विश्राम कर सकूँ श्रमित थकित अपने से हारा,
है मुझ पर विश्वास तुम्हारा।

पृष्ठ संख्या—90

•

62 — क्यों अथक, अविकल, उठाकर, इन्द्रधनुषी बाँह।
तुम सतत रचते मरुस्थल में जलद की छाँह।
किसलिए चंचल क्षणों की चाल किंचित रोक,
ढालते सुधि में सुधा सिंचित अपरिमित प्यार।
कौन हो तुम स्नेह के संकेत से सुकुमार।

दृष्टि धूमिल, पंख घायल, टूटती-सी देह।
बादलों के पार जाने में बहुत संदेह।
किन्तु ओ विश्वास! तेरी श्वास में मधु घोल,
कामना के कुंज पर गिरती महीन फुहार।
कौन हो तुम प्रीति-पावस की प्रथम बौछार।

स्निग्ध-किरनों का सजल आलोक है इस पार।
कल्पना के अंक में उस पार है रस-धार।

मैं इधर हूँ खोजता तुमको, उधर तुम मौन,
जा रहे प्रतिपल किये उर पर अधिक अधिकार।
कौन हो तुम चिर समर्पण के मधुर आधार।

पृष्ठ संख्या—91

•

63 — पुतलियों पर झुक गयी पलकें दृगों का भार होकर।
छलक आयीं कुछ विकल बूँदें बहुत लाचार होकर।
उस थकी सी दृष्टि से तुमने न मेरी ओर देखा,
देखने मुझको लगी मेरी व्यथा साकार होकर।
सैकड़ों ही बार चितवन की जलन में जल चुका हूँ।
अब तुम्हारे अधर की मुसकान बनना चाहता हूँ।
मैं तुम्हारे स्नेह का अरमान बनना चाहता हूँ।

इंगितों में हास, अंगों में छिपा अवसाद भारी।
मैं समझ पाया न जीवन की अनोखी गति तुम्हारी।
आज फिर तुमने जला दी कामना सोयी हुई सी,
मिट सकेगी क्या दरस-रस से हृदय की प्यास सारी,
डूब जिनमें जायँ यह संयोग और वियोग दोनों,
उन उमड़ते आँसुओं का गान बनना चाहता हूँ,
मैं तुम्हारे स्नेह का अरमान बनना चाहता हूँ।

श्वास में मेरे तुम्हारे श्वास की संचार-विधि हो।
प्राण को बन कर प्रणय छाये हुए सौन्दर्य निधि हो।
सत्य सारे हों घिरे उलझी हुई अलकावली से,
बाँधने को स्वप्न मेरे भौंह की कुंचित परिधि हो।

देख अपने रूप को पाऊँ इसी से मैं तुम्हारे—

रूप के अभिमान का अभिमान बनना चाहता हूँ ।
मैं तुम्हारे स्नेह का अरमान बनना चाहता हूँ ।

तुम रहो मेरे अभावों की अलौकिक पूर्ति बन कर ।
कामना की कान्ति बनकर, साधना की स्फूर्ति बनकर ।
मैं चढ़ाऊँ भावनाओं के अछूते फूल तुम पर,
तुम करो स्वीकार वे सब, कल्पना की मूर्ति बनकर ।
भक्त बनना ही सफलता है मधुर आराधना की,
कौन कहता है कि मैं भगवान बनना चाहता हूँ ।
मैं तुम्हारे स्नेह का अरमान बनना चाहता हूँ ।

पृष्ठ संख्या—92-93

•

64 — तुमने सिखलायीं नयनों की भाषाएँ |
तुमनें खींचीं उर पर कोमल रेखाएँ |
मेरे भोले विश्वासों को अपना कर,

तुमनें छेड़ीं मेरी अबोध आशाएँ|
मैं अपने में पूर्ण मौन बैठा था,
तुमनें बरबस सपनों के देस बसाये|
तुम मेरे जीवन के समीप क्यों आये ?

दर्पन से तन की कान्ति सुधा की धोयी|
तारों की शैया पर ज्यों पूनो सोयी|
या ज्यों प्रभात की पहली-पहली किरनें—
छू, शबनम की बूँदों में उषा खोयी|

मेरे घन-तम का हृदय चीर देने को,
तुम क्यों मुस्कानों में बिजली भर लाये ?
तुम मेरे जीवन के समीप क्यों आये ?

वाडव-ज्वाला से तप्त हृदय की कारा|
प्रतिपल अनन्त जल में जलती जल-धारा|
जीवन की सारी सुधा समायी शशि में,
रह गया पटककर शीश नीरनिधि खारा|

लेकिन तुम विजयी विहँस उठे इतराकर,
मुख-शशि में जब अनगिन छवि-सिंधु समाये|
तुम मेरे जीवन के समीप क्यों आये ?

•

अनुभाग-पाँच

65 -

लोग कहते हैं कि तुमसे दूर है अब जो,
ज़िंदगी भर वह तुम्हारा रह नहीं सकता।
झूठ है यह बात या कुछ सत्य है इसमें,
तुम्हीं बोलो, मैं स्वयं कुछ कह नहीं सकता।

जानता हूँ सिर्फ़ इतना ही कि अनचाहे।
अनकहे अनजान सहसा ऐंठतीं बाँहें।
बैठ जाता मन, घुमड़ आते घने बादल।
डूब जाती साँस, कुछ ऐसा बरसता जल।

मचलते आँसू लिपटकर साथ बहने को,
किस तरह कह दूँ कि मैं अब बह नहीं सकता |
और मैं इसके सिवा कुछ कह नहीं सकता |

भले पूजा-मूर्ति चकनाचूर हो जाये |
भले अपनी छाँह तन से दूर हो जाये |
देह गल जाये, नसों में आग लग जाये,
भले अपने पर स्वयं संदेह जग जाये |
धड़कनों में, श्वास में, प्रश्वास में लेकिन,
एक दृढ़ विश्वास है जो ढह नहीं सकता |
और मैं इसके सिवा कुछ कह नहीं सकता |

ज़िंदगी है तो कहीं पर प्यार है निश्चय |
वृत्त है तो बिंदु का आधार है निश्चय
चोट सहने को खुली इंसान की छाती |
क्यों कि उसमें है किसी के स्नेह की थाती |
हर तरह आराम से हूँ पर कहीं रह-रह,
दर्द होता है जिसे मैं सह नहीं सकता |
और मैं इसके सिवा कुछ कह नहीं सकता |

•

66 — शिथिल हो जाती निशा जब अलस पलकें मूँद ।
पोछती कर से उषा प्रस्वेद – तारक - बूँद ।
बिखर जाते भूमि पर श्रम-बिन्दु बनकर ओस ।
मौन रहा जाता विमन मैं मन मसोस-मसोस ।
देखता जब सीकरों में दुख सघन साकार ।
छलक उठता तब अभागे लोचनों के पार,
मेरी प्रीति, मेरा प्यार ।

हो चुके कितने हृदय के कण हृदय से भिन्न ।
हो चुकीं कितनी प्रणय की शृंखलाएँ छिन्न ।
शेष है धूमिल क्षणों की क्षीण छाया मात्र ।
एक ठोकर से चुका है टूट रीता पात्र ।
अश्रु-धारा के लिए है कौन-सा आधार ।
विमुख हो तुम तब निहारे और किसका द्वार ।
मेरी प्रीति, मेरा प्यार ।

देखकर निशि-दिवस का धूमिल मिलन-अभिसार ।
जानकर गोधूलि, ले कुछ रज-कणों का भार ।
नयन-नभ से नित्य पड़ते अश्रु-तारक टूट ।
सिसकियाँ बन कर रुदन का धैर्य जाता छूट ।
निरखता मैं विकल प्रतिपल पंथ, पलक पसार ।
दूर खो जाता क्षितिज की ओट में निस्सार—
मेरी प्रीति, मेरा प्यार ।

पृष्ठ संख्या—98

•

67— आँसू दृगों से ढुल गये|
बंधन स्वरों के खुल गये|
इस डूबती - सी साँस ने,
समझा सहारा फिर तुम्हें|
मैंने पुकारा फिर तुम्हें|

अलकें शिथिल उलझी हुईं|
पर दृष्टियाँ सुलझी हुईं|
छिप चाँदनी के फूल में,
मैंने निहारा फिर तुम्हें|
मैंने पुकारा फिर तुम्हें|

उमड़ी, उठीं, झिझकीं, झुकीं|
लहरें झलक पाकर रुकीं|
मँझधार के आवेग ने,
माना किनारा फिर तुम्हें|
मैंने पुकारा फिर तुम्हें|

पृष्ठ संख्या—99

•

68 — देख कर कातर दृगों से नीरदों की ओर।
छू दिये तुमने विकल कोमल क्षितिज के छोर।
कसक-सी उर में घुमड़ कर रह गयी चुपचाप,
बँध गये हम-तुम, अमर हो इन्द्रधनु की डोर।
रीतने पाये न देखो अश्रु का भंडार।

यह चरण, यह शीश दोनों दूर कोसों दूर।
मिल गये सहसा समर्पण में विसुध भरपूर।
स्नेह के उस बीज में अंकुर उगे सुकमार,
हो गया था जो अभी ही चूर, चकनाचूर,
फिर फले-फूले धरा का यह सजग शृंगार।

तुम निठुर हो और मृदु भी ज्यों कली अनजान।
है तुम्हारे पास आँसू से भरी मुसकान।
पलक की लघु, पँखड़ियों में हँस रहे जलजात,
किन्तु कोरों में उन्हीं की सिसकता तूफ़ान।
इस प्रलय, इस सृष्टि के, ओ कटु सरल आधार!

ओ सलोने साँवले मेरे हृदय के प्यार!

पृष्ठ संख्या—100

•

69 — जब चले आधार अपना खोजने विश्वास।
जब पवन के पंख पाकर उड़ चले निश्वास|

देख उलझी दृष्टि घिरते बादलों के बीच,
जब हृदय की धड़कनें पहुँची तुम्हारे पास ।
तब अधर में प्यार नयनों में लिये अवसाद ।
भीगती बरसात में आयी तुम्हारी याद ।

अनिल-दोलित चल अलक से नीर-बिन्दु अधीर
गिर कपोये से कपोलों पर भिगोते चीर ।
झलकता उससे जलद-स्वर-भीत उर चपलाभ ।
सलिल-श्लथ पथ में कलिल-लथपथ सकंप शरीर ।
हो चला कुछ मंद पंकिल नूपुरों का नाद ।
भीगती बरसात में आयी तुम्हारी याद ।

एक सरस फुहार से सब धुल गये दल फूल ।
एक ही जलधार में घुलमिल गये युग कूल ।
एक ही बौछार से मिटने लगे पद-चिह्न,
देखता ही रह गया आकाश सब-कुछ भूल ।
रिक्त दृग-सर भर गये, फिर बह चले चुपचाप,
मिल सका जीवन इन्हें इतने दिनों के बाद ।
भीगती बरसात में आयी तुम्हारी याद ।

•

70 - कुछ उदासी से भरी, कुछ साँझ-सी सुकुमार आँखें।
शून्य में खोयी हुई-सी, खोजती-सी प्यार आँखें।
एक काली छाँह जैसे भौंह के नीचे झुकी थी,
पलक कहकर ढो रही थीं बेबसी का भार आँखें।
दृष्टियों की दीनता में मौन आवाहन छिपा था ।
मैं समीरण-सा मिला, म्रियमाण कलि से हिल गये तुम,
धूलि-कण से रश्मि-पथ पर कौन मुझको मिल गये तुम।

साँस में मेरी सुधा थी, पँखुरियों में प्रान आये ।
जी उठे किंजल्क, छलक मरंद-कन नादान आये।

देखता ही मैं रहा इकटक पिपासित अधर दोनों,
कब बिरसता दूर हो कब थिरकती मुसकान आये।
बिखरकर मुझ पर विसुध इठला उठी मधुगंध सारी,
स्नेह से मैं सींच भी पाया नहीं पर खिल गये तुम।
धूलि-कण से रश्मि-पथ पर कौन मुझको मिल गये तुम।

किन्तु विधि का कोप, घुट कर रह गयी आशा अधूरी।
कर न पाया मैं तुम्हारी वह तनिक-सी माँग पूरी।
तुम खिंचे उस ओर, खिंचकर रहा गया इस ओर मैं भी,
और बढ़ती ही गयी भुज - बन्धनों के बीच दूरी।
हो रहा असमर्थ मैं अनुदार भार सम्हालने में,
फूल कर किस हेतु हो इतने अधिक बोझिल गये तुम।
धूलि-कण से रश्मि-पथ पर कौन मुझको मिल गये तुम।

•

71 — फट चले बादल, गगन ने फिर धरा की ओर देखा।
थी अभी लय हो गयी जो बन चली फिर क्षितिज-रेखा।
पर हिलोरों की प्रगति में वेग अब भी कम नहीं है,
कौन जाने ज्वार कितने है छिपाये भाग्य-लेखा।
सरल भोली दृष्टियों से तुम जिसे भी देख दोगे,
मैं लिये उस एक तिनके का सहारा ही रहूँगा।
मैं तुम्हारा था, तुम्हारा हूँ, तुम्हारा ही रहूँगा।

भँवर-कारा, वीचि-बंधन तोड़ कितनी बार जीता।
लीन अपने में न मुझको कर सकी मँझधार, जीता।
मृत्यु से भीषण पराजय को अतल जल में डुबोकर,
आ गया हूँ मैं प्रलय के सिंधु के इस पार, जीता।
बहुत संभव था तुम्हारी शक्ति से भी जीता जाता,
किन्तु अपने-आप से तो नित्य हारा ही रहूँगा।
मैं तुम्हारा था, तुम्हारा हूँ, तुम्हारा ही रहूँगा।

स्वप्न की पहचान, सुधि के नूपुरों का नाद हो तुम।
आँसुओं के देश में खोयी हुई-सी याद हो तुम।

जब तुम्हें विश्वास है मेरे हृदय के कम्पनों पर,
किसलिए फिर कनक-पलकों में भरे अवसाद हो तुम।
जी उठे देवत्व, मेरी चेतना ! तुम मुसकराओ,
मैं लिये इन लोचनों में अश्रुधारा ही रहूँगा।
मैं तुम्हारा था, तुम्हारा हूँ, तुम्हारा ही रहूँगा।

•

72 — पोंछ लो यह अश्रुकन फिर-फिर छलक उठते हठीले।
पड़ गये गलकर इन्हीं से वेदना के बन्द ढीले।
दाब दो शीतल करों से आज ठंडी आह का मुँह,
लो सँभालो अब तुम्हीं यह पलक भीगे, गीत गीले।
और इस पर भी अगर हो चाहते देना यही तो,
आग करके आह दो, अंगार करके अश्रुकन दो |
जल न दो मुझको जलन दो।

मूक निर्जन हो, अमावस की निशा, दुख की निशानी।
सुन रहा हो तट तिमिर - त्रासित तरंगो की कहानी।
देखती प्रतिबिम्ब धूमिल, हों झुकी दो -चार डालें,
सुप्त सरि के स्वप्न को छू मचल उठती हो जवानी।
चीरकर जल के हृदय को कह उठे तब एक ज्वाला,
गति तरंगों की न दो, तट का रसिक सिकताभ मन दो।
जल न दो मुझको जलन दो।

एक झोंका था कि आँखें ही गयी मेरी सघन हो।
एक आँधी थी कि चलदल-सा गया भयभीत मन हो।
किन्तु साँसों में सिहरकर सो गया तूफान अब तो,
इन दृगों के सामने तुम बन गये निर्मल गगन हो।
मृत्यु का हिम कर रहा है दग्धता की माँग तुमसे,
ओस की बूँदे न दो, आलोक के कन दो, किरन दो।
जल न दो मुझको जलन दो।

•

73 — हो रहे होंगे पलक की कोर पर कंपन अभी तक।
धो रहे होंगे अधर के छोर को चुंबन अभी तक।
दूर होकर भी हृदय के हो जैसे हृदय है,
बाहुओं के बीच उठते जाग आलिंगन अभी तक।
प्रात की मृदु गोद में अब तक उषा सोई हुई है,
चाँदनी के अंक में सोया हुआ है प्रात रानी !
भूल मत जाना समर्पण के क्षणों की बात रानी !

बरुनियों ने बाँध पाया स्वप्न का संसार कैसे ?
आ सका लघु पुतलियों के बीच इतना प्यार कैसे ?
कब, कहाँ, इन शोख़ आँखों ने सँजोना स्नेह सीखा,
सह सकीं सुकुमार पलकें आँसुओं का भार कैसे ?
म्लान कलियों ने सुरभि इतनी अधिक पायी कहाँ से,
खिल उठी किस भाँति मुरझायी हुई - सी रातरानी ?
भूल मत जाना समर्पण के क्षणों की बात रानी !

वह अनोखे प्रश्न, नस-नस में खुमारी घोल देना।
दृष्टियों से मुसकराना, दृष्टियों से बोल देना।
चाँद के दोनों किनारों पर तिमिर का फैल जाना,
अधखुली वेणी कली-सी उँगलियों से खोल देना।
वह नवल नवनीत ढलकता, मृदुल, कोमल कलेवर,
चाँदनी से देह धोयो, दूध से धोयी जवानी।
भूल मत जाना समर्पण के क्षणों की बात रानी !

पृष्ठ संख्या—105

•

74 — मिलन - पल में भी तुम्हारी कुछ न कहने की कला में।
कौन जाने क्या निहित था मौन रहने की कला में।
क्रूरता दी है अगर आघात करने में स्वयं को,

तो कुशलता दो मुझे भी चोट सहने की कला में,
किरण-वन्दित मृदु दृगों के एक इंगित से तुम्हारे,
हो गये शतखंड चिर अस्तित्व के अभिमान मेरे।
अधखुले लोचन तुम्हारे, अधखिले अरमान मेरे।

जब हृदय की रिक्तता में स्वप्न घिरते, सृष्टि होती।
जब पलक के छोर जाते भीग, बोझिल दृष्टि होती।
प्रश्न- सूचक- चिह्न सुख की चाह के आगे लगाकर
दुख उमड़ता, दूर पथ पर आँसुओं की वृष्टि होती।
उन क्षणों में भी तुम्हारी मूर्ति से उत्तर न पाकर,
लौट आते हैं सहमकर द्वार से आह्वान मेरे।
अधखुले लोचन तुम्हारे, अधखिले अरमान मेरे।

रम न पाये प्राण जी भर भावना के मोह में भी।
हो न पाया मैं सफल संदेह में, विद्रोह में भी।
कह न पायें शब्द, पर संकेत मन पहचानता है,
एक आशा है सतत आरोह में, अवरोह में भी।
स्नेह से, आघात से, आधार से, असमर्थता से,
बिछलते, गिरते, सँभलते, लड़खड़ाते गान मेरे।
अधखुले लोचन तुम्हारे, अधखिले अरमान मेरे।

•

75 — माना मैं मन से दुर्बल हूँ, दोषी भी हूँ अपराधी भी।
किन्तु अभी सुन सके कहाँ तुम मेरी दुख-गाथा आधी भी।
सब कुछ सुनकर जो कह दोगे, सर आँखों पर लूँगा उसको,
जो चाहे निर्णय दे देना, मौन रहूँगा, कुछ न कहूँगा।
पर ये चरण नहीं छोड़ूगा, ठुकराये जाने पर भी मैं,
एक बार जिसको अपनाया, उसे सदा अपनाना होगा।
पथ पर इतनी दूर बढ़ चुके, अब कैसे फिर जाना होगा।

अभी चेतना नहीं गयी है, दो बूँदें भी अमृत होंगी।

कुछ ही क्षण के बाद रुकेगी हृदयगति, आशाएँ मृत होंगी
मैं न रहूँगा इस धरती पर, सच मानों केवल तुम होगे,
चुम्बन बन जो लगा भाल पर, पोंछ रहे वह कुंकम होगे।
आज नहीं तो कल समाधि पर मेरी, तुमको आना होगा।
पथ पर इतनी दूर बढ़ चुके, अब कैसे फिर जाना होगा।

कब तक और निहारूँ मैं पथ, कब तक और रहूँ मन मारे।
मेरे चंदा ! मुझे बता दो कब तक और गिनूँ यह तारे।
किस दिन तुम मेरी आँखों में समुद उतर आओगे नभ से,
कब मैं भीग-भीग जाऊँगा, नन्हीं साँसों के सौरभ से।
सुधि-जल में प्रतिबिंब दिखाकर, कब तक मन बहलाना होगा।
पथ पर इतनी दूर बढ़ चुके, अब कैसे फिर जाना होगा।

•

76 — कब हुआ निश्शेष अविनश्वर तुम्हारा दान।
किन्तु मानूँगा न मैं उसके लिए अहसान।
आज अपनापन समझ फिर फैलता है हाथ,
सजल पलकें, उँगलियों के छोर पर अभिमान।
याचना मेरी तुम्हारे प्यार की अभिव्यक्ति।
मधुरिमे ! फिर आज तुमसे माँगता हूँ शक्ति।

कब तुम्हारे द्वार से रीता फिरा यह हाथ।
गोद में तुमने सम्हाला कब न झुकता माथ।
कब न पागल चुम्बनों से भर दिये ये प्रान,
कब नहीं ढुलका किये मन आँसुओं के साथ।
कब न दूरी में बिलख दूनी हुई अनुरक्ति।
मधुरिमे ! फिर आज तुमसे माँगता हूँ शक्ति।

आ बसो आकाश में मधु चाँदनी से स्नात।
और पाऊँ चाँद में मैं तुम्हें सारी रात।
फिर हृदय के स्वर हृदय में चेतना भर जायँ,
भीगा जायें तरलता से दान की तरु-पात।

आसरा बन कर मधुर युग-युग जिये आसक्ति।
मधुरिमे ! फिर आज तुमसे माँगता हूँ शक्ति।

पृष्ठ संख्या—108

•

78 —

उड़ रही है धूल उर में।
कसक उठती मन मधुर में।
किन्तु अपनी रूक्षता ले,
स्नेह की कुछ कोंपलों में,
खो गया पतझार।
कैसे मान लूँ मैं हार।

क्षीण साँसे चल रही हैं।
तम-शिलाएँ गल रही हैं।
चोट करते किरण-भाले।
वक्ष में नभ के अभी तक
चिह्न हैं दो-चार।
कैसे मान लूँ मैं हार।

हृदय-गति में कंप प्रतिपल।
लोचनों में नीर छल-छल।
धूसरित कच, बिकच छाले,
है अभी उजड़ा नहीं,
दुख का सहज शृंगार।
कैसे मान लूं मैं हार।

•

78 — इस निर्दय जगत् की हाट में, टूटे हृदय का मोल |
केवल प्यार के दो बोल |
जिसके लोचनों में प्यास |
जिसकी श्वास में विश्वास |
युग-युग से तरसते त्रस्त,
आकुल प्राण जिसके पास |
उस निर्बल निपीड़ित-गात, प्राणी के प्रणय का मोल |
केवल प्यार के दो बोल |
जिसकी अश्रु-धूमिल दृष्टि |
करती बेबसी की वृष्टि |
जो खो कर स्वयं का सत्य,
सपनों से बनता सृष्टि |
उसके सृजन के संकल्प के असमय प्रलय का मोल |
केवल प्यार के दो बोल |
जिससे जल उठे सब गीत |
जिसमें डूब जाय अतीत |
जिससे काँपता हो व्योम,
जिसमें ग्रीष्म, वर्षा, शीत |
गद्-गद् कंठ से निकली हुई उस एक लय का मोल |
केवल प्यार के दो बोल |

•

79 — छिप गये घन बरुनियों में वे नयन अवदात।

दीर्घ पलकें झुक गयी, दिन से हुई ज्यों रात।
रह गया शशि-सिन्धु सा मन मचलकर सौ बार।
आज यों ही मान ली मैंने हृदय से हार।

वात ने बाती बुझायी, लुट गया आलोक।
स्नेह छलका, फिर अँधेरा कल्पना का लोक।
रूठ दीपक से गया जब निठुर दीपाधार।
आज पल में मान ली मैने हृदय से हार।

आ गये आँसू दृगों में, सह न पाये भार।
कर रही निश्वास दुखिया-सी खड़ी मनुहार।
किन्तु इन सबके लिए भी रुद्ध उर का द्वार।
आज सचमुच मान ली मैंने हृदय से हार।

पृष्ठ संख्या—111

•

80 - जाने किस क्षण, किस तरह, कहाँ कितनी भीषण हिलकोर उठें।
तट की रेखाएँ मिटें, उर्मियाँ कण-कण को झकझोर उठें।
कितनी बातें कह सकें और कितनी कहने को रह जायें।
मालूम नहीं कहते-कहते हम लोग किधर को बह जायें।
है आज मिलन निर्बाध, कौन जाने कल क्या मजबूरी हो।
जितनी समीपता अधिक बढ़ चुकी है, उतनी ही दूरी हो।
जीवन की चंचल लहरों में,
दो तिनकों का मिलना ही क्या।

हम मान रहे हैं जिसे जीत क्या जाने वह कब हार बने।
सारी हरियाली सूख जाय सारा वसंत पतझार बने।
यह सुरभि-स्निग्ध अनुकूल पवन कब दाह-दग्ध प्रतिकूल बने।

कब कोमल-कोमल पाँखुरियाँ कुम्हला-कुम्हला कर शूल बनें।
भौंरे निराश फिर जायँ, रहें मुकुलों के मधु-घर बन्द पड़ें।
बन जाय कूक ही हूक और पिक का पंचम स्वर मन्द पड़े।
मुरझाने वाली डाली पर,
दो फूलों का खिलना ही क्या।

सब कुछ कहने की इच्छा हो, कुछ कह देने का सोच रहे।
प्राणों में पागलपन लय हो, पर नयनों में संकोच रहे।
भावों में कुछ विस्तार बढ़े, कुछ अनुभावों में आकुंचन।
कुछ खुले और कुछ खुल न सके, वाणी का झीना अवगुंठन।
हों अर्थ ध्वनित संकेतों से ही और निरर्थक स्वर निकलें।
अभिनव-अभिनव रव हो लेकिन टूटे-फूटे अक्षर निकलें।
यदि कह न सकें मन की बातें,
दो अधरों का हिलना ही क्या।
जीवन की चंचल लहरों में,
दो तिनकों का मिलना ही क्या।

पृष्ठ संख्या—112

•

81 — व्यर्थ ही लहरें उठीं, लय हो गयीं फिर,
भर न पायीं प्यार प्रानों में किसी के।
अधजली साधे लिये अपने हृदय में।
सलिल कम्पित हो उठा, गति थी प्रलय में।
नीर निधि में सैकड़ों ही ज्वार आये,
किन्तु शशि निश्चल रहा नीले निलय में।
तट समझ सौ बार टकरायीं हिलोरें,
कब मिला आधार, प्रानों में किसी के।

आँधियाँ कितनी उठीं पर तुम न डोले।
रो उठा क्रंदन स्वयं पर तुम न बोले।
थीं प्रतिक्षा में खुली आँखें युगों से,
पर न जाने क्यों नयन तुमने न खोले।
रह गया संदेह ही, क्या है कसक भी—

सुरभि से सुकुमार प्रानों में किसी के।

मिट गया सब, तब तुम्हारी नींद टूटी।
स्वप्न में तुमने किसी की सृष्टि लूटी।
किन्तु इस पर भी अगर मुसका सको तुम,
मैं समझ लूँगा, जगी तकदीर फूटी।

यह तुम्हारी जीत है जो रच सके तुम,
अश्रु का नीहार प्रानों में किसी के।
दृगों से कुछ बूँद लेकर वेदना के।
राग घोला, बरुनियों से चित्र आँके।
पर उपेक्षा से भरे लोचन तुम्हारे,
कब चितेरे के हृदय के पार झाँके।

तूलिका फिरती रही बेकार निशि-दिन।
कब बने आकार प्रानों में किसी के।
व्यर्थ ही लहरें उठी लय हो गयीं फिर।
भर न पायीं प्यार प्रानों में किसी के।

पृष्ठ संख्या—113-114

•

82 — कभी जो पास थे, वे दूर होंगे |

अछूते स्वप्न सारे चूर होंगे |
हृदय से हृदय छूटेगा, मगर हम—
न कुछ कर पायेंगे, मजबूर होंगे |

कोई दिन - रात मन को नोचता है |
कलेजे में सूई - सी कोंचता है |

पलक घिरकर घटाओं- से झुकेंगे |
न आँसू रोकने पर भी रुकेंगे |
रहेंगे छटपटाते अंग सारे |
नयन अंगार- से ये बुझ चुकेंगे |

खड़ा हो पास अपनी ही चिता के,
मेरे अस्तित्व का शव सोचता है |
भरे- से घाव कौन करोंचता है |
कोई दिन-रात मन को नोचता है |

•

83 - इस स्नेह के उद्यान में, कोमल कुसुम कितने खिले।
उच्छ्वास से कोई झुके, निश्वास से कोई हिले।
लेकिन सुरभि की याचना करने कभी यदि मैं चला,
पाषाण ही निकले सभी, मुझको जहाँ जो भी मिले।
वह कौन -सा आधार है मैंने जिसे खोया नहीं,

वह कौन -सी मुसकान है जो अश्रु से धोयी नहीं।
इतने बड़े संसार में, मेरा कहीं कोई नहीं।

कोई मिला निर्जीव कहकर चेतना ही ले गया।
कोई मिला प्यासा समझ, दो बूंद पानी दे गया।
कुछ लोग मन में ही निरा भावुक बताकर रह गये,
मैं था चकित, दुखदाह यह उन तक पहुँच कैसे गया।
किसने कुसुम को नासमझ बनकर कुचल डाला नहीं,
मेरे हृदय की भूमि पर किसने कसक बोयी नहीं।
इतने बड़े संसार में मेरा कहीं कोई नहीं।

जब भी कभी गलकर पिघलकर प्यार आँखों से बहा।
निरुपाय, निश्चल, निष्पलक, बस देखता ही मैं रहा।
कुछ भार हलका हो इसी भ्रम में व्यथा को शब्द दे,
अपनी अभागी चाह को मैंने नहीं किससे कहा।
वह कौन पलकें थीं न जो उठकर उपेक्षा से गिरीं,
वह कौन आँखें थीं कि जो सुनकर कथा सोयी नहीं।
इतने बड़े संसार में मेरा कहीं कोई नहीं।

•

84 — सहसा मन में जग उठती है दुख सहने की साध।
नहीं चाहता पाना मन ही निज निधि को निर्बाध।
कभी नष्ट होकर आशाएँ देती हैं संतोष,
कभी-कभी प्यारा लगता है साँस तोड़ता प्यार।
कभी-कभी सुखमय जीवन भी बन जाता है भार।

एक विजय के बाद दूसरी, यह क्रम है रसहीन

मुसकानों में घुटकर मर जाते हैं अश्रु नवीन
कभी विजेता बनने में भी होता है संकोच,
कभी-कभी अपने को भाती है अपनी ही हार।
कभी-कभी सुखमय जीवन भी बन जाता है भार।

किसी समय मन कर उठता है मन से ही विद्रोह।
चूर-चूर होकर रह जाता है सब माया-मोह।
कभी किसी की निर्ममता में भी मिलती है तृप्ति,
कभी-कभी अच्छा लगने लगता है अत्याचार।
कभी-कभी सुखमय जीवन भी बन जाता है भार।

•

85 — सच हम नहीं सच तुम नहीं।
सच है महज़ संघर्ष ही ।
संघर्ष से हटकर जिये तो क्या जिये हम या कि तुम।
जो नत हुआ वह मृत हुआ ज्यों वृंत से झरकर कुसुम।
जो लक्ष्य भूल रुका नहीं।
जो हार देख झुका नहीं।
जिसने प्रणय पाथेय माना जीत उसकी ही रही।
सच हम नहीं सच तुम नहीं।
ऐसा करो जिससे न प्राणों में कहीं जड़ता रहे।
जो है जहाँ चुपचाप अपने-आप से लड़ता रहे।
जो भी परिस्थितियाँ मिलें।
काँटे चुभें, कलियाँ खिलें।
हारे नहीं इंसान, है संदेश जीवन का यही।
सच हम नहीं सच तुम नहीं।
हमने रचा आओ हमीं अब तोड़ दें इस प्यार को।
यह क्या मिलन मिलना वही जो मोड़ दे मझधार को।

जो साथ कूलों के चले।
जो ढाल पाते ही ढले।
वह जिन्दगी क्या जिन्दगी जो सिर्फ पानी सी बही।
सच हम नहीं सच तुम नहीं ।
संसार सारा आदमी की चाल देख हुआ चकित।
पर झाँक कर देखो दृगों में, हैं सभी प्यासे थकित।
सच तुम नहीं सच हम नहीं ।
अपने हृदय का सत्य अपने - आप हमको खोजना।
अपने नयन का नीर अपने -आप हमकों पोंछना।
आकाश सुख देगा नहीं ।
धरती पसीजी है कहीं ?
जिससे हृदय को बल मिले है ध्येय अपना तो वही।
सच हम नहीं सच तुम नहीं ।
सच ही सतत संघर्ष ही।

पृष्ठ संख्या—118-119

•

86 — जीवन है सुनसान और कुछ भी नहीं।

कितनी चाहें उगीं झुलसकर झर गयीं।
कितनी साँसें तरल-तरसकर मर गयीं।
कितनी लपटें उठीं चिता के वक्ष पर,
बुझते - बुझते शून्य धूम से भर गयीं।
बाकी है श्मसान और कुछ भी नहीं।
जीवन है सुनसान और कुछ भी नहीं।

आशा करता रहा मनुज प्रत्येक से।
किसको अपना कहे, मिले सब एक से।
टूट-टूट कर तार-तार बन्धन हुए,
निर्दयता के साथ गये इतने कसे।
अब एकाकी प्रान और कुछ भी नहीं।
जीवन है सुनसान और कुछ भी नहीं।

जो न हृदय की बात हृदय से सुन सके।
जो संशय के जाल व्यर्थ ही बुन सके।
केवल दे दे आग और मुँह फेर ले,
जो न दाह के बाद फूल भी चुन सके।
पत्थर है इन्सान और कुछ भी नहीं।
जीवन है सुनसान और कुछ भी नहीं।

पृष्ठ संख्या—120

•

87 - हरे - भरे अनगिन घावों से,
बूँद - बूँद कर रक्त बह रहा।
बालू की दीवार गिर रही,
थकित आत्मविश्वास ढह रहा।

मत के आतप से काया ही ओले-सी जा रही गली है।
इस जीवन से मौत भली।

कितने साथी विमुख हो गये,
कितने प्रण बेकार हो चुके।
अपने से ही हार - हार सब,
असफल कितनी बार हो चुके।
निर्माणों की नींव हिल उठी, आहत आशा टूट चली है।
इस जीवन से मौत भली है।

विकृत भयानकता से, शशि की
कोर - कोर को राहु ग्रस रहा।
आज पराजय पर प्रकाश की,
अट्टहास कर तिमिर हँस रहा।
तारों की झनकार डर गयी, उतरी वीणा, रात ढली है।
इस जीवन से मौत भली है।

पृष्ठ संख्या—121

•

88 —

एक वस्तु पाकर औरों की ओर ताकता है क्यों प्राणी |
यह कैसी संतोषहीनता, दानी ! यह कैसी नादानी |

तेरी सर्वश्रेष्ठ कृति मानव,
को भी तेरे दान अधूरे |
जीवन के अरमान अधूरे |

भावों में डूबे रहकर भी आकुल उर की थाह न पायी |
अपने प्रियतम के पाने की कोई सीधी राह न पायी |

युग-युग से गाता आया कवि ,
फिर भी तेरे गान अधूरे |
जीवन के अरमान अधूरे |

कुछ पाकर ही समझ लिया तूने निज को सब कुछ पाया-सा |
कितने सागर मथे किंतु अब तक अंतर प्यासा का प्यासा |

ओ दम्भी अंधे विज्ञानी !
तेरे अनुसंधान अधूरे |
जीवन के अरमान अधूरे |

पृष्ठ संख्या—122

•

अनुभाग-छह

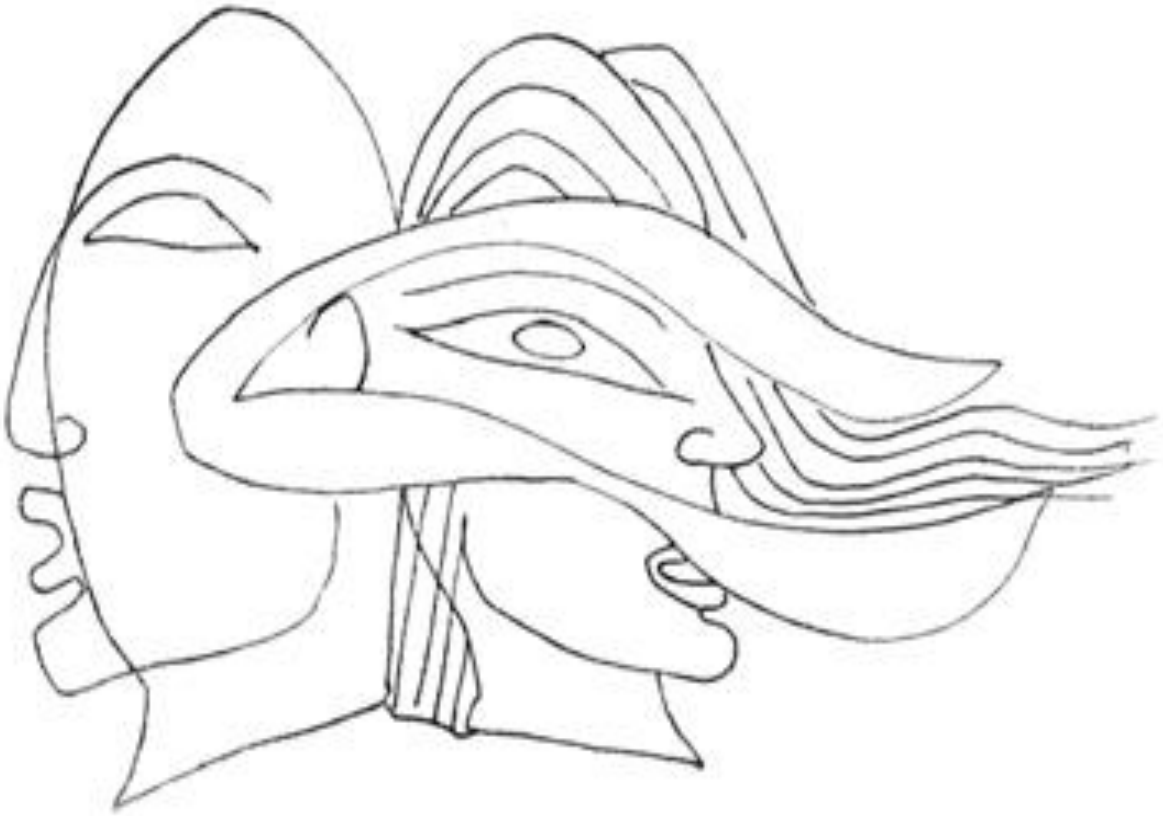

89 — नया लक्ष्य हो।
नयी सृष्टि हो।
आसमान के तारों को भी,
वेधें तीर हमारे।
इस धरती के वासी हम—
क्यों रहें स्वर्ग से हारे।
नया लक्ष्य हो।
नयी सृष्टि हो।

नया स्वप्न हो।
नयी दृष्टि हो।
रहे कल्पना की पावनता—
में गुलाब की गर्मी।
निर्माणों की नीवों में हो,
नये खून की गर्मी।
नया स्वप्न हो।
नयी दृष्टि हो।

नया नीर हो।
नयी वृष्टि हो।

गर्जन-तर्जन, बिजली-बादल,
बिन न चाहिए पानी।
संघर्षण-कर्षण से सूनी,
बिल्कुल व्यर्थ जवानी।
नया नीर हो।
नयी वृष्टि हो।

पृष्ठ संख्या—125

•

90 – जिसके सन्मुख युग-युग का मस्तक झुक जाये
जिसकी गति के आगे जग की गति रुक जाये।
जिसकी व्यापकता में ईश्वर खो जाये स्वयम्,
जिसकी रचना में विधि का वैभव चुक जाये।
जो अपनी मुसकानों से प्राणों को बल दे,
मैं मानवता के उसी रूप का पूजक हूँ।

जिसके अंतर में बसे तथागत अस्थिशेष।
जिसकी विशालता में पावनता हो अशेष।
जिसकी ईंटों में करुणा हृदय का स्पंदन हो,
जो विश्वासों को दे अपने सा सुदृढ़ वेश।
जिसकी महानता अडिग रहे झंझातप में,
मैं बुद्धि-बुद्ध के उसी स्तूप का पूजक हूँ।

जिसकी गहराई में हो जीवन की मिठास।
जो बुझा सके युग के राही की असह प्यास।
जिसके पनघट पर नूतनता के घट छलकें,
जिसमें गूँजे तरुणाईका नित नवल हास।
फिर जो सुदूर नभ का प्रतिबिम्ब छिपाये हो,

मैं परम्परा के उसी कूप का पूजक हूँ|

पृष्ठ संख्या—126

•

91 – अपने आँसू में लीन दीन शैशव है
आहत यौवन निर्जीव हृदय का शव है|
सहसा किसका स्वर गूँज उठा कानों में,
यातना नरक की घोर जरा रौरव है|

मैं भूल गया सारी परोक्ष की बातें,
जिस दिन सुख का आधार दूर तक देखा|
मैंने जीवन के पार दूर तक देखा|

राका में भी मैंने तुषार ही पाया|
उस केश-भार से क्लेश-भार ही पाया|
छिप गयी स्नेह की ज्योति झुकी पलकों में,
काली आँखों से अंधकार ही पाया|

पग-पग पर मिलते रहे मरुस्थल मुझको,
पायी न कहीं जलधार दूर तक देखा|
मैंने जीवन के पार दूर तक देखा|

दुख में जागृति की स्वर्ण-रश्मि-सी-फूटी|
सुख के सपनों की रजत-शृंखला टूटी|
निज कर से सब तारक-प्रसून मल डाले,
रवि ने रजनी की पुष्प-वाटिका लूटी|

कोपलें दिवस की ज्वालाओं में झुलसीं|
मैंने केवल पतझार दूर तक देखा|
मैंने जीवन के पार दूर तक देखा|

पृष्ठ संख्या—127

•

92 — किसने विनाश के चित्र भयंकर खींचे|

किसने भय से आशा के अंकुर सींचे |
मैं देख रहा मानव की चिर सत्ता को,
धरती के ऊपर और गगन के नीचे |

प्रतिदिन मिटने वाले तारों के ऊपर,
ऊषा बनकर मुसकाती नित्य नियति है |
अवरोध नहीं, जीवन में गति ही गति है |

दुखमय जीवन अभिशाप नहीं तो क्या है ?
संताप पतन का माप नहीं तो क्या है ?
मैं पूछ रहा हूँ इन रोने वालों से,
घुल-घुलकर मरना पाप नहीं तो क्या है ?

पापी जीवन का भार जगत क्यों ढोये,
उसके चरणों की ध्वनि मे लीन प्रगति है |
अवरोध नहीं जीवन में गति ही गति है |

मैं चला गगन की ओर धरा ने रोका |
गतिमय यौवन को जीर्ण जरा ने रोक |
जब-जब जग से विद्रोह किया प्राणों ने,
जर्जर समाज की परम्परा ने रोका |

लेकिन रुकर बढ़ सका कौन निज पथ पर
जड़ता चेतन की भूल, विकृति की कृति है |
अवरोध नहीं, जीवन में गति ही गति है |

पृष्ठ संख्या—128

•

93 — उपवन में निष्ठुर वेश लिये छलियों का ।
चुपके-चुपके आया समीर का झोंका ।
पहले पल भर पंखुरियों को दुलराया,
फिर कुचल दिया सुकुमार हृदय कलियों का।

जाकर अंबर पर पड़ी रुधिर की बूँदें,
रँग गये उन्हीं बूँदों में साँझ-सवेरे।
लड़खड़ा दिये फिर पाँव किसी ने मेरे।

लहरों में चकनाचूर हुआ जाता हूँ।
अपने से ही मजबूर हुआ जाता हूँ।
जितना ही मैं चाहता समीप पहुँचना।
उतना ही तट से दूर हुआ जाता हूँ।

मेरी दुर्बलता पर, परिहास लुटाकर,
हँस पड़ा कौन निर्मम नयनों को फेरे।
लड़खड़ा दिये फिर पाँव किसी ने मेरे।

अलसित आँखों में स्वप्न सजाये किसने ?
उन पर बरुनी के जाल बिछाये किसने ?
फिर एक-एक सपने को मसल-मसल कर,
अनगिन आँसू के बूँद लुटाये किसने ?

मेरे पथ का आलोक चुराकर किसने,
मेरे चंदा के तीर घने घन घेरे।
लड़खड़ा दिये फिर पाँव किसी ने मेरे।

•

94 — भय से रजनी रो उठी अबोध, अभागिन।
निज हाथों में अंगार लिये आया दिन।
प्रत्येक रुपहले तारे के डसने को,
हर एक किरन बन गयी सुनहली नागिन।

पथ में पग-पग पर शत-शत चिता जलायीं,
जलती आँखों के एक-एक आँसू ने।
तुम कौन चले उस ओर क्षितिज को छूने ?

चातक चिल्लाया, प्यास लगी पीऊ की।
कोयल के उर में हूक उठी, वह कूकी।
पर कवि के प्यासे उर पर चोट लगी जब,
वह मौन रहा, बह चली नदी आँसू की।

सब डूब गये लहरों की गहराई में,
रह गये बिचारे कूल - किनारे सूने।
तुम कौन चले उस ओर क्षितिज को छूने ?

कुछ फूल गिरे भू पर तरु के आँचल से।
कुछ अश्रु गिरे कवि के लोचन विह्वल से।
तुम खोल रहे सपनों की मीठी गाँठें,
इस सरल सलोनी मुसकानों के छल से।

मन उलझ गया अपने अनगिन प्रश्नों में,
इस उलझन में दुख और हो गये दूने।
तुम कौन चले उस ओर क्षितिज को छूने ?

पृष्ठ संख्या—130

•

अनुभाग-सात

95 —

तुम्हीं न त्याग कर सके।
रहा पुकारता कि एक घूँट कालकूट दो।
रहा दुलारता कि घूँट घूँटने की छूट दो।
न यह दिया, न वह दिया।
बस एक शब्द कह दिया|
शपथ दिला गये कि व्यक्ति जी सके न मर सके।
तुम्हीं न त्याग कर सके।

बहुत किया सके न रोक स्वप्न टूटता गया।

चले थे साथ-साथ किन्तु साथ छूटता गया।
अदृष्ट कब कहाँ झुका ?
प्रवाह कब कहाँ रुका ?
सँवार और को सके, न तुम स्वयं सँवर सके ।
तुम्हीं न त्याग कर सके।

कहा-सुनी के बाद भी मुझे समीप जानना ।
गरीब की कराह का कभी बुरा न मानना।
न सोचना कि अन्य हूँ।
हज़ार बार धन्य हूँ।
कभी तो तुम मेरे लिए दृगों में नीर भर सके।
तुम्हीं न त्याग कर सके।

•

96 - दुखी न हो अनंगिनी।
विनाश के समीप आदि-अन्त-मध्य कुछ नहीं।
अहेरियों का राज है, यहाँ अवध्य कुछ नहीं।
शिलामुखों के शाप से,
वियोग - वह्नि ताप से,
कराल काल-रात्रि में, डरो नहीं कुरंगिनी।
दुखी न हो अनंगिनी।
घने-घने भयावने बलाहकों की भीड़ है।
ज़रा-सी जान और लाख गाहकों की भीड़ है।
धरा तरल, गगन तरल,
सभी कहीं गरल-गरल,
परन्तु तुम निशंक ही रहो सुधांशु-संगिनी,
दुखी न हो अनंगिनी।

समीर की उसास से यहाँ प्रसन्न फूल हैं।
कठोर पंथ पर बिछे वहाँ असंख्य शूल हैं।
न झूमकर इधर झुको,
न झूमकर उधर रुको,
सम्हालती दुकूल को बहे चलो तरंगिनी
दुखी न हो अनंगिनी।

•

97 —

पलक उठे, पलक गिरे।
निराश कल्पना असीम पंथ देख सो गयी।
किरन नवीन फूटने चली कि साँझ हो गयी।
न स्वप्न-चित्र बन सके,
न लीन हो नयन सके,

व्यथा बिखर गयी दृगम्बु—
कन छलक-छलक गिरे।
पलक उठे, पलक गिरे।

अमृत-प्रकाश को विषाक्त अंधकार ने छुआ।
उषा झुलस गयी, सिसक उठा गगन, ये क्या हुआ !
प्रभात-वात जल उठी,
सुगंध हो विकल उठी,
विवर्ण भाल स्वेद बूंद से—
नखत ढलक गिरे।
पलक उठे, पलक गिरे।

अगर पवित्र हो सकूँ, अनन्त काल तक दहूँ।
कराल ज्वाल - जाल को लिए समुद्र-सा बहूँ।
परन्तु सोच है यही,
भरें न वे नयन कहीं,
कहीं किसी कपोल पर—
न छूट कर अलक गिरे।
पलक उठे, पलक गिरे।

•

98 — न रश्मि तुम, न ओस तुम।
किरन गगन निवासिनी।
किरन प्रकाश-हासिनी।
परन्तु तुम धरा-किरन,
व्यथा-भरी, उदासिनी।
दुखी, विकल, विभा-विगत,
विलोक डूबता नखत,
थिरक उठी किरन, मगर रहीं हृदय मसोस तुम।
न रश्मि तुम, न ओस तुम।
तरल तुषार ओस है।
सजल प्रहार ओस है।
जो फूल सत्य कह सकें,
तो एक भार ओस है।
तुम्हें तुषार मैं कहूँ?
तुम्हें प्रहार मैं कहूँ?
नहीं-नहीं, कभी नहीं अबोध तुम, अदोष तुम।
न रश्मि तुम, न ओस तुम।
प्रलुब्ध प्राण भौंर से।
जहाँ रहे सदा बसे।
पराग पोंछने चले,
तो पंख पाँखुरी कसे।
जहाँ न रश्मि जा सके,
जिसे न ओस पा सके,
वही मरंद से सना अमुक्त कंज-कोष तुम।
न रश्मि तुम, न ओस तुम।

पृष्ठ संख्या—136

•

99 - सकी न टूट शृंखला।
प्रभात-रश्मि को गहन दिशा तिमिर भरी मिली।
शिरीष पुष्प को कठोर काल-कोठरी मिली।
विलोक घोर यंत्रणा,
किसे नहीं हुई घृणा?
असह्य लौह पाश में कराहती रही कला।

सकी न टूट शृंखला।
ज़रा भी उफ़ हुई कि पाश और भी हुआ कड़ा।
किसी के पाप का कुफल किसी को भोगना पड़ा।
निबन्धनों की सृष्टि से,
कभी किसी भी दृष्टि से,
न पा सका समाज कुछ, न व्यक्ति का हुआ भला।
सकी न टूट शृंखला।

निहारने से शून्य, तृप्ति मन हुआ न तन हुआ।
अभाव ही अभाव में मनुष्य का पतन हुआ।
कोई भी चाँद भूमि पर,
न ला सका उतार कर,
इसी मनोज्ञ स्वप्न ने सदैव सत्य को छला।
सकी न टूट शृंखला।

•

100 — बनी रही परम्परा।
यहाँ सदा समष्टि का सिंगार ही हुआ मुखर।
कभी पनप सकी न व्यष्टि भारतीय भूमि पर।
करो करोड़ कल्पना,
यथार्थ में सभी मना,
भले गगन उदार हो, मगर कठोर है धरा।
बनी रही परम्परा !

द्विधा विभक्त हो रही अनंग की उपासना।
कहीं विशुद्ध स्नेह है, कहीं विशुद्ध वासना।
शरीर प्राण भिन्न है,
कबन्ध शीश छिन्न है,
यहाँ तरुण-निरोध में सदा सफल हुई जरा।
बनी रही परम्परा।

कहाँ बहुत लहर प्रवाह के विरुद्ध चल सकी।
निरीह एक जान कब समूह को कुचल सकी।
विरोध स्वर दिगंत में—
भरा परन्तु अंत में,
विनष्ट व्यक्ति हो गया, समाज ही रहा हरा।
बनी रही परम्परा।

पृष्ठ संख्या—138

•

101 — मनसिज ने कुसुम-धनु तान
छोड़े दो मुकुल-दल-बान
शंकर का अनावृत वक्ष
कर पाये न भय से लक्ष
जो दोनों गये थे चूक,
तुम हो एक, मैं हूँ दूसरा।

सुधि के स्वर भरे दो तार
चुपके से उठे झनकार
बजकर किन्तु अपने आप
सुनकर जगत् की पदचाप
सहसा हो गये जो मूक,
तुम हो एक, मैं हूँ दूसरा।
जीवन की दुपहरी बीच
अविरल आँसुओं से सींच
पलकों से हटाई धूल
पर जिनमें न आये फूल

जो मुरझा गये बन्धूक,
तुम हो एक, मैं हूँ दूसरा।

पृष्ठ संख्या—139

•

102 — बूँदों में हृदय को खींच
आकर लोचनों के बीच
कितनी बार बरसे मेघ !

भरकर तिमिर से आकाश
फिर फैला दिये भुज-पाश
विद्युत को हृदय के पास
पाकर, बढ़ी शतमुख प्यास
प्राणों का अमर शृंगार
अधरों पर अधर का भार
रस की धार बरसे मेघ।
कितनी बार बरसे मेघ।

नस-नस में अलस उन्माद
छाया, फिर नहीं कुछ याद
कब आँखें खुलीं मदहोश
फिर आया किसे कब होश
किसने की अथक मनुहार
किसकी जीत, किसकी हार !
पवन प्यार बरसे मेघ।
कितनी बार बरसे मेघ।

पर वह एक चुम्बन क्रूर
कर के चेतना को चूर
खुद भी बन न पाया सत्य
दुगुनी प्यास लाया सत्य
दूने आज जलते ओंठ
रह रहकर मचलते ओंठ
क्यों अंगार बरसे मेघ ?
कितनी बार बरसे मेघ।

पृष्ठ संख्या—140-41

•

103 — मैं कहाँ हूँ ?

आज भी है राग मन में,
आज भी है द्वेष !
आज भी मन हारता है,
जीतता परिवेश !
था जहाँ से युगों पहले चला—

क्या अब भी वहाँ हूँ ?
मैं कहाँ हूँ ?

चाहता हूँ मारना
जिस हिंस्र पशु को
लग रहा वह तो अमर है,
अधमरा मैं ही हुआ आघात से,
अस्तित्व का कैसा समर है ?
सो रहा था पशु गुहा में,
आ गया मानव कुहा में,
छिड़ गया संघर्ष तत्क्षण,
आत्मिक बल और भौतिक शक्ति का रण;
छू रही लपलपाती जीभ उसकी
चुभ रहे तीखे-नुकीले दाँत तन में,
यह निरन्तर बोध है
जब भी जहाँ हूँ !
मैं कहाँ हूँ ?
रूप जो रुचता रहा, रुचता रहेगा,
अंग तो नुचता रहा, नुचता रहेगा,
यातना यह बीतने वाली नहीं है;
व्यक्ति-मन में—
अस्मिता की यह लड़ाई
हारने या जीतने वाली नहीं है।
चाहता हर व्यक्ति मंगल,
जिन्दगी है एक जंगल,
हर किसी का दर्द अपने में समेटे
अकेले सारा जहाँ हूँ।
किन्तु फिर भी पूछता रहता स्वयं से,
मैं कहाँ हूँ ?

•

104 — मुझे फिर मेरा गहन एकांत दो |

जहाँ वज्राघात का भूकम्प-सा स्वर भी,
एक तिनका टूटने से अधिक आभासित न हो |
जहाँ उल्कापात से संत्रस्त अम्बर भी,
एक जुगनू के टिमकने से अधिक त्रासित न हो |
मुझे फिर मेरा वही एकान्त दो |

हर जमे विश्वास की जड़ उखड़ने के साथ
मैं भी उखड़ता हूँ
हर बिछड़ती आँख के संग तरल होकर
मैं स्वयं से बिछड़ता हूँ |
मुझे फिर मेरा सहज एकान्त दो |

दो वही आदिम, अचल एकान्त
असह कोलाहल - कलह को बेधकर भी
छाँह जिसकी तिक्त मन को परस जाती है,
जहाँ भी अस्तित्व झूठा जान पड़ता है,

वहीं उसकी याद आती है।

पृष्ठ संख्या—144

•